MAA OMWATI DEGREE COLLEGE

HASSANPUR (PALWAL)

NOTES

NAME : DR HEMANT SHARMA

SUB : Pol. Science. (Principal of Pol. sci)

CLASS : B.A. 4th Sem

विषय-सूची

1. अधिकारों की धारणा एवं सिद्धान्त

(Concept and Theories of Rights)

2. अधिकारों तथा कर्त्तव्यों में सम्बन्ध

(Relationship Between Rights and Duties)

3. मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा

(Universal Declaration of Human Rights)

4. स्वतन्त्रता की धारणा एवं सिद्धान्त

(Concept and Theories of Liberty)

5. समानता की धारणा

(Concept of Equality)

6. सामाजिक परिवर्तन

(Social Change)

7. विकास की धारणा एवं सिद्धान्त

(Concept and Theories of Development)

8. सूचना का अधिकार

(Right to Information)

9. उपभोक्ता संरक्षण एवं कल्याण

(Consumer Protection and Welfare)

1 अधिकारों की धारणा एवं सिद्धान्त
(CONCEPT AND THEORIES OF RIGHTS)

मनुष्य के सामाजिक जीवन को समृद्ध और सम्भव बनाने के लिए समाज और राज्य की ओर से मनुष्य को कुछ सुविधाएं प्राप्त होती हैं। ये सुविधाएं व्यक्ति को राज्य की ओर से इसलिए दी जाती हैं ताकि वह अपने जीवन का सर्वोन्मुखी विकास कर सके। राज्य की ओर से मनुष्य को दी गई सुविधाओं का नाम ही 'अधिकार' है। अधिकार ऐसी सामाजिक अवस्थाओं का नाम है जिनके बिना मनुष्य के लिए पूर्ण विकास करना सम्भव नहीं है। आधुनिक लोकतन्त्रीय युग में अधिकारों का और भी अधिक महत्त्व है। इसी कारण प्रजातन्त्रीय देशों में संविधान द्वारा लोगों को महत्त्वपूर्ण अधिकार दिए जाते हैं ताकि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करने के योग्य हो सके।

अधिकार की परिभाषाएं
(DEFINITIONS OF RIGHT)

'अधिकार' की परिभाषा विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूपों में दी है। कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएं निम्नलिखित हैं—

वाईल्ड के अनुसार, "कुछ कार्यों को करने के लिए स्वतन्त्रता की उचित मांग ही अधिकार है।"[1]

क्रास के अनुसार, "अधिकार विवेकयुक्त जीवन के आवश्यक तत्त्वों का आंगिक समूह है।"[2]

श्री निवास शास्त्री के अनुसार, "मुख्य रूप में अधिकार उस प्रबन्ध, नियम या रीति का नाम है, जिन्हें किसी संस्था के कानूनों ने स्वीकार किया है और जो नागरिक के नैतिक कल्याण के लिए सहायक सिद्ध होते हैं।"[3]

बोसांके के कथनानुसार, "अधिकार वह मांग है, जिसे समाज स्वीकार करता है और राज्य क्रियान्वित करता है।"[4]

ऑस्टिन के अनुसार, "अधिकार व्यक्ति की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह दूसरे व्यक्ति से कोई कार्य करवा सकता है या उसे कोई कार्य करने से रोक सकता है।"[5]

हालैण्ड के अनुसार, "एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के कार्य को सामाजिक मत और शक्ति द्वारा प्रभावित करने वाली शक्ति का नाम अधिकार है।"[6]

प्रो० लॉस्की ने अधिकारों की बड़ी सुन्दर परिभाषा दी है। उनके अनुसार, "अधिकार उन सामाजिक परिस्थितियों का नाम है जिनके बिना कोई व्यवित पूर्ण रूप से विकास नहीं कर सकता।"[7]

टी० एच० ग्रीन के अनुसार, "अधिकार वह शक्ति है, जो सबकी भलाई में सहायक होने के कारण मानी जाती है।"[8]

डॉ० बेनी प्रसाद के अनुसार, "अधिकार वे सामाजिक अवस्थाएं हैं, जो व्यक्ति की उन्नति के लिए आवश्यक हैं। अधिकार सामाजिक जीवन का आवश्यक पक्ष हैं।"[9]

मेकन के अनुसार, "अधिकार सामाजिक हित की वे लाभप्रद परिस्थितियाँ हैं, जो नागरिक के उचित विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।"[10]

... claim to the freedom in the exercise of certain activities." —*Wilde*

अधिकारों की विशेषताएँ
(Characteristics of Rights)

बोसांके, लास्की, वाइल्ड, ग्रीन व डॉ. बेनी प्रसाद आदि विद्वानों द्वारा अधिकारों की जो परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी है, उनके आधार पर अधिकारों की निम्नलिखित विशेषताएँ (लक्षण) स्पष्ट होती है-

1. **सामाजिक प्रकृति (Social Nature)**—अधिकारों की एक विशेषता है—इनकी सामाजिक प्रकृति अर्थात इनकी सामाजिकता। अन्य शब्दों में, किसी भी अधिकार के लिए आवश्यक है कि इसको समाज द्वारा मान्यता प्रदान की गयी हो, क्योंकि सामाजिक मान्यता के अभाव में किसी अधिकार की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। सामाजिक मान्यता के अभाव में व्यक्ति जिन शक्तियों का प्रयोग करता है, वे उसके अधिकार न होकर, उसकी प्राकृतिक शक्तियाँ होकर रह जाती हैं। वस्तुतः अधिकार राज्य द्वारा व्यक्ति को प्रदत्त सुविधाएँ अथवा कुछ कार्य करने की सकारात्मक स्वतन्त्रता है, जिसका उपभोग वह समाज में रहकर ही करता है। अतः समाज के बाहर किसी कन्दरा या गुफा में रहने वाले व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं होते हैं। इसी बात का समर्थन करते हुए **आर. एन. गिलक्राइस्ट** लिखते हैं, **"अधिकार इसी तथ्य से जन्म लेते है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है"**[6] इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक स्वीकृति ही अधिकारों का सृजन करती है और समाज केवल उन्हीं माँगों को स्वीकृति देता है, जो प्रचलित नैतिक मान्यताओं पर खरी उतरती हैं।
2. **कल्याणकारी स्वरूप (Welfare Nature)**—अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत और राज्य द्वारा प्रदत्त वे सुविधाएँ अथवा परिस्थितियाँ हैं, जो व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक होती हैं। व्यक्ति की किसी ऐसी माँग को अधिकार का रूप नहीं दिया जा सकता है, जो उसके विकास में अवरोध पैदा करती हो। यही कारण है कि मद्यपान करना तथा जुआ खेलना जैसी माँगों को अधिकार के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं है। वस्तुतः कोई भी माँग नैतिकता तथा सदाचार के आधार पर ही अधिकार का रूप ग्रहण करती है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए **प्रो. ई. आशीर्वादम** ने लिखा है कि, **"अन्तिम रूप से सभी अधिकारों का सम्बन्ध किसी-न-किसी सामान्य तथा नैतिक हित से होना चाहिए।"**[7]
3. **जन हित में प्रयोग (Use in Public Interest)**—अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक दशाएँ हैं। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा इनका प्रयोग इस प्रकार किया जाए कि उसके अपने विकास के साथ-साथ अन्य व्यक्तियों का विकास भी हो सके। दूसरे शब्दों में, अधिकारों का प्रयोग इस प्रकार से नहीं किया जाना चाहिए कि वे दूसरों के विकास में बाधा बन जाएँ; बल्कि इनका प्रयोग जन हित में किया जाना चाहिए। तब ही सम्पूर्ण समाज का विकास हो सकता है। यदि किसी व्यक्ति द्वारा उसके अधिकार का प्रयोग जन-हित की उपेक्षा करता है, तो ऐसी दशा में उसको सीमित किया जाना न्यायोचित है।
4. **राज्य का संरक्षण (Protection of State)**—अधिकारों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इनको राज्य का संरक्षण प्राप्त होता है। इनके उल्लंघन की दशा में राज्य बल-प्रयोग करके उल्लंघनकर्ता को ऐसा करने से रोक देता है। दूसरे शब्दों में, अधिकार न्यायसंगत (Justiciable) होते हैं अर्थात् यदि किसी व्यक्ति के अधिकारों का किसी अन्य व्यक्ति या स्वयं सरकार द्वारा उल्लंघन किया जाता है, तो प्रभावित व्यक्ति इसके विरुद्ध न्यायालय की शरण में जा सकता है। वस्तुतः केवल वही अधिकार व्यक्ति के वास्तविक अधिकार होते हैं, जिन्हें राज्य संरक्षण प्रदान करता है। राज्य-विहीन अवस्था में व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं हो सकते हैं, जैसा कि समझौतावादी विचारक मानतें हैं।
5. **सार्वभौमिकता (Universality)**—अधिकारों की एक अन्य विशेषता है—इनकी सार्वभौमिकता। यहाँ सार्वभौमिकता से हमारा अभिप्राय यह है कि अधिकार समाज के सभी व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं। अधिकारों को लेकर व्यक्ति-व्यक्ति में किसी आधार पर कोई अन्तर नहीं किया जाता है, क्योंकि सभी व्यक्ति समान रूप से अधिकारों का उपभोग करते हैं। अधिकारों की इस सार्वभौमिकता में ही कर्तव्यों का समावेश होता है। जो एक व्यक्ति का

अधिकार होता है, वही दूसरे व्यक्ति का कर्तव्य बन जाता है। उदाहरणार्थ यदि मुझे जीवन का अधिकार है, तो यह अन्य व्यक्तियों का कर्तव्य है कि वे मुझे इस अधिकार का उपभोग करने दें और मेरा भी यह कर्तव्य है कि मैं दूसरे व्यक्तियों को उनके जीवन के अधिकार का उपभोग करने दूँ। आधुनिक लोकतान्त्रिक युग में अधिकारों की सार्वभौमिकता पर विशेष रूप से बल दिया जाता है। अब वह समय नहीं रहा, जब केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के पास ही अधिकार होते थे।

6. **अधिकारों पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Rights)**–अधिकारों की एक विशेषता यह भी है, इन पर कुछ-न-कुछ प्रतिबन्ध अवश्य लगे होते हैं, क्योकि सार्वजनिक हित, कानून और व्यवस्था, सदाचार, जन स्वास्थ्य व देश की सुरक्षा व प्रादेशिक अखण्डता को घ्यान में रखते हुए इन पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। इसका अभिप्राय: यह है कि अधिकार असीमित अथवा निरपेक्ष नही होते हैं।
7. **परिवर्तनशीलता (Dynamic Character)**–अधिकार स्थिर नहीं, बल्कि परिवर्तनशील होते हैं, क्योंकि जैसे-जैसे समाज की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों में बदलाव आता है, वैसे-वैसे अधिकार भी बदलते जाते हैं। यही कारण है अलग-अलग देशों में व्यक्तियों को अलग-अलग अधिकार प्राप्त होते हैं और समय-समय पर इनकी संख्या घटती-बढ़ती जाती है। भारत में, 2005 में नागरिकों को सूचना का अधिकार प्रदान करना सिद्ध करता है कि अधिकार परिवर्तनशील होते हैं।
8. **कर्त्तव्यों से घनिष्ठ रूप से जुड़ाव (Intimate Relationship with Duties)**–अधिकारों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि ये कर्त्तव्यों से घनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं, क्योंकि जो एक व्यक्ति का अधिकार होता है, वहीं दूसरे व्यक्ति का कर्त्तव्य होता है। एक व्यक्ति अपने लिए जो अधिकार चाहता है, उसका यह कर्त्तव्य भी होता है कि वह दूसरे व्यक्तियों को भी उसका प्रयोग अथवा उपयोग करने दे। इसीलिए कहा जाता है कि अधिकार एवं कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अधिकार समाज के सभी व्यक्तियों के उच्चतम विकास हेतु आवश्यक वे आम सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, जिन्हें समाज स्वीकार करता है और जिन्हें राज्य लागू करने की व्यवस्था करता है।

अधिकारों के प्रकार/किस्में (Types/Kinds of Rights)

सामान्य रूप से व्यक्ति के अधिकारों के निम्नलिखित श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है–

1. **प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights)**–प्राकृतिक अधिकारों के अर्थ और स्वरूप के बारे में विद्वानों ने अलग-अलग मत व्यक्त किए हैं। कुछ विद्वानों–विशेषकर हॉब्स, लॉक एवं रूसो– का प्राकृतिक अधिकारों से अभिप्राय व्यक्तियों को प्राप्त उन सुविधाओं से है, जो उन्हें राज्य की उत्पत्ति से पूर्व की **'प्राकृतिक अवस्था'** (State of Nature) में उपलब्ध थीं। इस अवस्था में मनुष्य मनमाने तरीके से जिन सुविधाओं का प्रयोग करता था, उन्हें ही इन विद्वानों द्वारा प्राकृतिक अधिकार का नाम दिया गया है। जॉन लॉक ने प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्ति के तीन प्राकृतिक अधिकारों का उल्लेख किया है (*i*) जीवन का अधिकार, (*ii*) स्वतन्त्रता का अधिकार एवं (*iii*) सम्पति का अधिकार। किन्तु प्राकृतिक अधिकारों-सम्बन्धी यह अवधारणा ठीक नहीं है, क्योंकि समाज के बाहर किन्हीं अधिकारों की कल्पना नहीं की जा सकती है। वस्तुत: प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति के वे अधिकार हैं, जो उसके पूर्ण विकास के लिए आवश्यक होते हैं। **टी. एच. ग्रीन के अनुसार "प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार हैं, जिनके बिना मनुष्य का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है।"** कहने की आवश्यकता नहीं कि अधिकार एक सभ्य एवं सुसंस्कृत समाज में ही सम्भव होते हैं। अत: यह कहना उचित होगा कि प्राकृतिक अधिकार वे आदर्श अधिकार हैं, जो सर्वत्र व्यक्तियों को उपलब्ध होने चाहिए, क्योंकि ये व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करते हैं।
2. **नैतिक अधिकार (Moral Rights)**–नैतिक अधिकारों से हमारा अभिप्राय उन अधिकारों से होता है, जिनका सम्बन्ध नैतिक मान्यताओं से होता है अर्थात् इनका सम्बन्ध व्यक्ति के नैतिक आचरण से होता है। ये अधिकार कानून पर आधारित नहीं होते, क्योंकि इनके पीछे राज्य की बाध्यकारी शक्ति नहीं होती है। ये पूर्णतया सदाचार,

सद्गुण व सद्व्यवहार पर आधारित होते हैं। उदाहरण के लिए धनवान से सहायता लेना निर्धन का एक नैतिक अधिकार है, किन्तु यदि धनवान निर्धन की सहायता नहीं करता, तो उसे इसके लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। टी. एच. ग्रीन ने राज्य-प्रदत्त अधिकारों को भी नैतिक अधिकार माना है, क्योंकि इनका उद्देश्य सामाजिक हित होता है। किन्तु राज्य-प्रदत्त अधिकार नैतिक अधिकार नहीं होते हैं; बल्कि ये ही अधिकार नैतिक होते हैं, जो नैतिकता पर आधारित हों। **स्टीफन लीकॉक** के शब्दों में, **"नैतिक अधिकारों का क्षेत्र आचार-व्यवहार है और इनसे उन सभी कार्यों का निर्देश होता है, जिन्हें करना हमारा नैतिक कर्तव्य है।"**

3. **मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)**—मौलिक अधिकार की श्रेणी में उन अधिकारों को रखा जाता है, जो देश के मूल कानून अर्थात् संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किए जाते हैं। ये प्रायः वे अधिकार होते हैं, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए अति आवश्यक समझे जाते हैं। क्योंकि ये संविधान द्वारा जनता को दिए जाते हैं, अतः कोई भी व्यक्ति या संस्था; यहाँ तक कि विधानपालिका और कार्यपालिका भी इनका अतिक्रमण नहीं कर सकती, क्योंकि इन्हें न्यायालय का संरक्षण प्राप्त होता है। कोई व्यक्ति अथवा सरकार इनको परिवर्तित नहीं कर सकती है। यदि इनमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन किया भी जाता है, तो वह संवैधानिक संशोधन के द्वारा ही किया जा सकता है। आधुनिक युग में प्रत्येक सभ्य देश में संविधान द्वारा नागरिकों को मूल अधिकार दिए गए हैं। उदाहरण के लिए भारत में वर्तमान में नागरिकों को छः मौलिक अधिकार प्राप्त हैं।
4. **वैधानिक अधिकार (Legal Rights)**—वैधानिक अधिकारों से हमारा अभिप्राय व्यक्ति के उन अधिकारों से होता है, जिन्हें राज्य कानून द्वारा जनता को प्रदान करता है। इन्हें कानून का संरक्षण प्राप्त होता है; अतः इनके अतिक्रमण होने पर नागरिक कानून की शरण लेते हैं। सरकार कानून के माध्यम से इनमें जब चाहे परिवर्तन कर सकती है। सरकार की इस शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है। कानूनी अधिकारों को परिभाषित करते हुए **स्टीफन लीकॉक** ने लिखा है कि, **"कानूनी अधिकार वे विशेषाधिकार हैं, जो प्रत्येक नागरिक को अपने सह-नागरिकों के विरुद्ध प्राप्त होते हैं तथा जो राज्य की सर्वोच्च शक्ति द्वारा प्रवत्त तथा रक्षित होते हैं।"** सामान्यतया कानूनी अधिकारों को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है—
   (*i*) **नागरिक अधिकार (Civil Rights)**—नागरिक अधिकारों से हमारा तात्पर्य उन अधिकारों से होता है, जो सामाजिक जीवन की सुविधाओं के रूप में नागरिकों को राज्य द्वारा प्रदान किए जाते हैं। ये अधिकार सामाजिक जीवन की समृद्धि तथा सुखद जीवन के लिए परम् आवश्यक होते हैं। ये नागरिकों के सांस्कृतिक विकास में सहायक होते हैं। जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, धर्म, संस्कृति और शिक्षा का अधिकार, विचार-अभिव्यक्ति का अधिकार, संघ बनाने का अधिकार, मनोरंजन का अधिकार, परिवार का अधिकार तथा न्याय पाने का अधिकार आदि ऐसे ही अधिकार होते हैं, जिन्हें इस श्रेणी में रखा जा सकता है।
   (*ii*) **राजनीतिक अधिकार (Political Rights)**—राजनीतिक अधिकार उन अधिकारों को कहा जाता है, जो शासन में भाग लेने हेतु नागरिकों को प्रदान किए जाते हैं। ये अधिकार विशेष रूप से लोकतांत्रिक राज्यों में ही व्यक्तियों को उपलब्ध होते हैं। इस श्रेणी में जिन प्रमुख राजनीतिक अधिकारों की गिनती की जाती है, उनमें मतदान देने का अधिकार, निर्वाचित होने का अधिकार, याचिका प्रस्तुत करने का अधिकार, सरकारी पद पाने का अधिकार, सरकार की आलोचना करने का अधिकार एवं प्रतिरोध का अधिकार शामिल किए जाते हैं।
   (*iii*) **आर्थिक अधिकार (Economic Rights)**—आर्थिक अधिकारों से हमारा अभिप्राय उन सुविधाओं से होता है, जो व्यक्ति के आर्थिक जीवन को बेहतर बनाने के लिए प्रदान की जाती हैं। समाजवादी देशों में नागरिकों के आर्थिक अधिकारों पर विशेष रूप से बल दिया जाता है। अधिकारों की इस श्रेणी में काम पाने का अधिकार, विश्राम करने तथा अवकाश पाने का अधिकार, पर्याप्त मजदूरी पाने का अधिकार, आर्थिक शोषण के विरुद्ध अधिकार तथा आर्थिक सुरक्षा का अधिकार आते हैं। ये सभी अधिकार व्यक्ति के आर्थिक हितों को संरक्षण प्रदान करते हैं।

अधिकारों के प्रमुख सिद्धांत
(Main Theories of Rights)

अधिकारों का कैसे जन्म हुआ और आधुनिक समय में इनका क्या स्वरूप होना चाहिए–इस विषय में अनेक सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं, जिनमें से प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं–

1. **प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत (Theory of Natural Rights)**–प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत अधिकार-विषयक सर्वाधिक प्राचीन सिद्धांत है जिसकी जड़ें प्राचीन यूनानी चिन्तन में देखने को मिलती है। इस सिद्धांत के अनुसार अधिकार पूर्ण रूप से प्राकृतिक एवं जन्म-सिद्ध होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अधिकार मनुष्य को प्रकृति द्वारा प्राप्त होते हैं, अतः समाज या राज्य द्वारा इन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिए। इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए **प्रो. ई. आशीर्वादम** ने लिखा है, **"अधिकार उसी प्रकार व्यक्ति की प्रकृति के अंग है, जिस प्रकार उसकी चमड़ी का रंग। इनकी विस्तृत व्याख्या करने या औचित्य बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। ये तो स्वयं-सिद्ध हैं।"** दूसरे शब्दों में, अधिकार प्राकृतिक हैं और मनुष्य की प्रकृति में निहित हैं। ये राज्य या समाज द्वारा व्यक्ति को प्रदान नहीं किए गए हैं, बल्कि ये जन्म से ही व्यक्ति को प्राप्त होते हैं।

   हॉब्स, लॉक, रूसो, मिल्टन, वाल्टेयर, टॉमस पेन, हरबर्ट स्पेन्सर तथा ब्लेक स्टोन आदि विद्वान इस सिद्धांत के समर्थक हैं। सामाजिक समझौता सिद्धांत के प्रतिपादकों ने इस सिद्धांत का प्रबल समर्थन किया है। इस सिद्धांत के प्रतिपादकों के अनुसार राज्य के जन्म से पूर्व की 'प्राकृतिक अवस्था' में व्यक्ति प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करते थे। जब व्यक्तियों ने समझौता करके राज्य की रचना की, तो उन्होंने अपने कुछ अधिकारों का परित्याग किया, जिससे कि शेष अधिकारों की रक्षा की जा सके।

   हॉब्स का मत है कि, **"राज्य के निर्माण से पूर्व व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अधिकार प्राप्त था।"** **लॉक** के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों का उपभोग करता था। इसी तरह **रूसो** का भी कहना है कि, **"मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है..."** अर्थात् स्वतन्त्रता मनुष्य का प्रकृति-प्रदत्त अधिकार है। **हरबर्ट स्पेन्सर** जिसका राजनीतिक चिन्तन समझौतावादी विद्वानों से बहुत अधिक मिलता है, ने व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों को स्वीकार करते हुए लिखा है, **"प्रत्येक व्यक्ति सब कुछ करने को स्वतन्त्र है, यदि ऐसा करते हुए वह दूसरों की स्वतन्त्रता नहीं छीनता है।"**

   प्राकृतिक अधिकारों के इस सिद्धांत ने 17वीं तथा 18वीं शताब्दियों में विश्व को व्यापक रूप से प्रभावित किया। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति (1779) तथा अमेरिका की स्वतन्त्रता की उद्घोषणा (1789) को इसने बहुत अधिक प्रेरित किया। आधुनिक समय में भी कुछ विद्वान भोजन, वस्त्र, निवास तथा आजीविका को मनुष्य का प्राकृतिक अधिकार मानते हैं।

   वर्जीनिया (अमेरिका) के संविधान में स्पष्ट रूप से घोषणा की गयी है, **"सभी व्यक्ति प्रकृति से समान रूप से स्वतन्त्र हैं और उनके कुछ निहित अधिकार है, जब वे किसी समाज में प्रवेश करते हैं, तो वे किसी भी समझौते के तहत आने वाली पीढ़ियों को इन अधिकारों–जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकार से वंचित नही कर सकते हैं।"**[8]

   आलोचना (Criticism)–यह सत्य है कि एक समय में प्राकृतिक अधिकारों के इस सिद्धांत ने राजनीतिक चिन्तन को बहुत अधिक प्रभावित किया, किन्तु आज इस सिद्धांत का वह महत्त्व नहीं रहा है, जो पहले था। आज इस सिद्धांत की अनेक आलोचनाएँ की जाती हैं। इनमें से कुछ आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं–

   1. **'प्राकृतिक' शब्द अस्पष्ट और भ्रामक**–इस सिद्धांत में जिस 'प्राकृतिक' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह अत्यन्त अस्पष्ट व भ्रम पैदा करने वाला है। इस शब्द का प्रयोग एक से अधिक अर्थों में किया जाता है। इस सिद्धांत में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि इस शब्द का क्या अर्थ है।

2. **प्राकृतिक अधिकारों की सूची पर सहमति का अभाव**–इस सिद्धांत के प्रतिपादक इस बात पर एकमत नहीं हैं कि कौन-कौन से अधिकारों को प्राकृतिक अधिकार माना जाए। यदि कुछ विद्वान दासता को प्राकृतिक मानते हैं, तो कुछ इसकी तीव्र निन्दा करते है। इसी प्रकार कुछ विद्वान सम्पत्ति को प्राकृतिक अधिकार मानते हैं, तो कुछ समानता को। दासता और समानता के अधिकार तो वैसे भी एक-दूसरे के विरोधी हैं।
3. **राज्य के बिना कोई अधिकार नहीं**–इस सिद्धांत में राज्य से पूर्व की 'प्राकृतिक अवस्था' में भी अधिकारों के अस्तित्व की कल्पना की गयी है। वास्तव में राज्य के अभाव में किन्हीं अधिकारों की कल्पना नहीं की जा सकती है, क्योंकि अपनी बाध्यकारी शक्ति के द्वारा राज्य ही इन्हें संरक्षण प्रदान करता है।
4. **अधिकार निरपेक्ष नहीं**–इस सिद्धांत की मूल मान्यता यह है कि व्यक्ति को प्रकृति की देन होने के कारण अधिकार निरपेक्ष होते हैं, अतः राज्य द्वारा उन पर कोई भी प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिए। लेकिन यदि राज्य द्वारा ऐसा नहीं किया जाएगा, तो एक व्यक्ति के निरपेक्ष अधिकार दूसरे व्यक्ति के अधिकारों का अतिक्रमण कर देंगे।
5. **प्राकृतिक अधिकारों में अन्तर्विरोध**–इस सिद्धांत के प्रतिपादकों द्वारा प्राकृतिक अधिकारों में जिन अधिकारों की गिनती की गयी है, उनमें से कई अधिकार तो परस्पर-विरोधी हैं; जैसे–स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार। इन दोनों में से किसी एक अधिकार का निरपेक्ष प्रयोग दूसरे को समाप्त कर देता है।

महत्त्व (Importance)–यद्यपि प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत में कई गम्भीर दोप हैं, फिर भी इस सिद्धांत के महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता है। यह सिद्धांत इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछ अधिकार अत्यन्त आवश्यक हैं। ये इसी रूप में प्राकृतिक कहे जा सकते हैं, न कि इस रूप में कि इन्हें प्रकृति द्वारा मनुष्य को प्रदान किया गया है। आज अनेक देशों के संविधानों में मौलिक अधिकारों की जो व्यवस्था की गयी है, वह इसी तथ्य को ध्यान में रखकर की गयी है। इस सन्दर्भ में लार्ड ने ठीक ही कहा है, **"प्राकृतिक अधिकार वे शर्तें हैं, जो मानवीय संस्था द्वारा वहन की गयी हों अथवा नहीं, किन्तु जो व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है।"**[9]

2. **अधिकारों का वैधानिक सिद्धांत (Legal Theory of Rights)**–अधिकारों के वैधानिक सिद्धांत के प्रतिपादक **जेरेमी बैंथम, थॉमस हॉब्स, जॉन ऑस्टिन तथा टी.ई. हालैण्ड** हैं। यह सिद्धांत प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत के विरुद्ध एक प्रकार की प्रतिक्रिया है, क्योंकि यह सिद्धांत अधिकारों को प्राकृतिक या स्वाभाविक न मानकर पूर्णतया कृत्रिम मानता है और इस बात पर वल देता है कि इनका सृजन राज्य द्वारा किया गया है। दूसरे शब्दों में, वही अधिकार व्यक्ति के अधिकार होते हैं, जिनकी पुष्टि राज्य अपनी मोहर लगाकर करता है, क्योंकि राज्य की पुष्टि के विना किन्हीं अधिकारों की कल्पना नहीं की जा सकती है। राज्य ही व्यक्ति को अधिकार प्रदान करता है और वही व्यक्ति को अधिकारों से वंचित कर सकता है इतना ही नहीं, वह पुराने अधिकारों को समाप्त कर सकता है और उनकी जगह नए अधिकारों को जन्म दे सकता है। इस सिद्धांत के आधार पर जीवन, स्वतन्त्रता, समानता, सम्पत्ति आदि के अधिकार नागरिकों को राज्य द्वारा ही प्रदान किए गए हैं; न कि प्रकृति द्वारा। इस सिद्धांत के प्रतिपादकों के अनुसार राज्य ही अधिकारों को परिभाषित करता है; इनकी सीमाएँ निर्धारित करता है और यही इनके उपभोग के आश्वासन को सुनिश्चित करता है।

यह सिद्धांत अधिकारों को असीमित नहीं मानता है, वल्कि यह इस तथ्य को स्वीकार करता है कि सामाजिक हित में व्यक्ति के अधिकारों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं, क्योंकि अधिकारों की निरपेक्षता से जिस अराजकता का जन्म होगा, वह अन्ततः मनुष्य को 'प्राकृतिक अवस्था' की ओर ले जाएगी।

आलोचना (Criticism)–अधिकारों-सम्बन्धी वैधानिक सिद्धांत भी दोषमुक्त नहीं है। विद्वानों ने जिन आधारों पर इसकी आलोचना की है, वे इस प्रकार हैं–

1. **राज्य अधिकारों को जन्म नहीं देता है**–आलोचकों का कहना है कि राज्य अधिकारों को जन्म नहीं देता है, वल्कि यह इनकी पुष्टि करता है और इन्हें लागू करता है। इस प्रकार राज्य अधिकारों को केवल कानूनी

"Natural rights are those conditions, whether ...

मान्यता प्रदान करता है। कोई भी अधिकार केवल इसलिए अधिकार नहीं कहलाता कि उसे कानूनी मान्यता प्राप्त है। वस्तुतः अधिकार को कानूनी मान्यता ही इसलिए प्रदान की जाती है कि वह नैतिक आधार पर व्यक्ति का अधिकार होता है। अतः राज्य मनमाने ढंग से किसी अनैतिक बात को कानूनी मान्यता देकर अधिकार घोषित नहीं कर सकता है।

2. **यह सिद्धांत राज्य की निरंकुशता स्थापित करता है**–यह सिद्धांत यह घोषित करके कि राज्य ही अधिकारों को जन्म देता है और वही इन्हें समाप्त कर सकता है, राज्य को निरंकुश बना देता है, और शासकों को मनमानी करने की छूट दे देता है। वास्तव में राज्य की शक्ति पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य ही होने चाहिएँ अन्यथा वह व्यक्ति के अधिकार व स्वतन्त्रता को कुचल डालेगा।

3. **कानून अधिकारों का उचित आधार नहीं है**–यह सिद्धांत कानून को अधिकारों का आधार मानकर चलता है। किन्तु कानून अधिकारों का उचित आधार नहीं हो सकता है, क्योंकि कानून में समय-समय पर संशोधन होते रहते हैं, जब कि अधिकार स्थायी होते हैं। अतः अधिकारों के महत्त्व को देखते हुए औचित्य की भावना को ही अधिकार के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। **हैरोल्ड जे. लास्की** ने अधिकारों को मानव स्वभाव एवं परम्पराओं पर आधारित माना है। उसके शब्दों में, **"अधिकारों के बने रहने का प्रश्न लिखित अधिनियमों की औपचारिकता की अपेक्षा स्वभाव एवं परम्परा का प्रश्न अधिक है"**[10]

4. **यह सिद्धांत सामाजिक मान्यता की उपेक्षा करता है**–इस सिद्धांत की इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि राज्य कानूनों का निर्माण करता है। वस्तुतः राज्य द्वारा उन्हीं अधिकारों को स्वीकृत किया जाता है, जिन्हें समाज की मान्यता प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त, यह सिद्धांत केवल इस बात की व्याख्या करता है कि किसी विशेष समय में नागरिकों को कौन-कौन से अधिकार प्राप्त हैं। यह इस बात की व्याख्या
करने में असमर्थ है कि नागरिकों को कौन-कौन से अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ।

महत्त्व (Importance)–यद्यपि अधिकारों के वैधानिक सिद्धांत की पर्याप्त आलोचना की गयी है, किन्तु इस सिद्धांत में निहित सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता है। यह सिद्धांत इस सत्य को उजागर करता है कि व्यक्ति के विकास हेतु जो दावे प्रस्तुत किए जाते हैं, वे तब तक अधिकार का रूप धारण नहीं करते, जब तक कि उन्हें राज्य की स्वीकृति नहीं मिल जाती। वस्तुतः यह सिद्धांत अधिकारों के वैधानिक पक्ष पर बल देता है। इस तथ्य का समर्थन करते हुए बी. बोसांके कहते हैं, **''अधिकार के वैधानिक और नैतिक दोनो सन्दर्भ होते हैं। यह एक ऐसा दावा है, जिसे कानून द्वारा लागू किया जा सकता है।''**[11]

3. **अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धांत (Historical Theory of Rights)**–यह सिद्धांत इस बात को प्रतिपादित करता है कि अधिकार इतिहास की उपज होते हैं अर्थात् जो रीति-रिवाज अथवा परम्पराएँ सदियों से चली आ रही होती हैं, कालान्तर में वे अधिकार का रूप धारण कर लेती हैं। इस प्रकार इस सिद्धांत की यह मान्यता है कि न तो अधिकार राज्य द्वारा निर्मित होते हैं और न ही प्रकृति-प्रदत्त, बल्कि धीरे-धीरे हम जिन सामाजिक रीति-रिवाजों अथवा परम्पराओं के अभ्यस्त हो जाते हैं, वे ही हमारा अधिकार बन जाती हैं। इस तरह अधिकार रीति-रिवाजों का ही विकसित रूप होते हैं। इतिहास अधिकारों का स्रोत है और परम्पराएँ इनका आधार। इस सिद्धांत का समर्थन करते हुए जी. डी. रिची ने लिखा है कि, **"जिन अधिकारों के सम्बन्ध में लोग सोचते हैं कि वे उन्हें धारण करने चाहिएँ, केवल वे ही अधिकार होते हैं; जिनके धारण करने के वे अभ्यस्त होते हैं या जिनके सम्बन्ध में गलत या सही उनकी यह धारणा होती है कि उनको वे लोग कभी परम्परा के रूप में धारण करते थे।"**[12] अनेक देशों में नागरिकों को प्राप्त अधिकार इस बात का प्रमाण हैं कि प्रचलित परम्पराएँ ही आगे चलकर अधिकारों का रूप ग्रहण कर लेती हैं। भारत में हिन्दू कानून, जिसका संसद द्वारा निर्माण किया गया है, बहुत पहले

से चला आ रहा था और यह परम्पराओं पर आधारित था। इसी प्रकार भारत में मुस्लिम कानून का आधार सदियों से चली आ रहीं परम्पराए हैं। ब्रिटेन का कॉमन लॉ तो परम्पराओं पर ही आधारित है। ये सभी कानून नागरिकों को अनेक अधिकार प्रदान करते हैं।

आलोचना (Criticism)–यह सिद्धांत अधिकारों की सतही व्याख्या करता है। यह कहना कि सदियों से चली आ रही परम्पराएँ ही कालान्तर में अधिकार बन जाती हैं, पूर्ण रूप से सही नहीं है। इस विषय में **डब्ल्यू. ई. हाकिंग्स** का विचार है, **"इतिहास को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता है, किन्तु अकेले इतिहास पर भरोसा भी नहीं किया जा सकता है।**[13]**"** यह अधिकारों की बड़ी सीधी-सादी व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस सिद्धांत में अग्रलिखित गम्भीर दोष हैं–

1. **सभी अधिकार रीति-रिवाजों की उपज नहीं होते हैं**–इस सिद्धांत द्वारा यह प्रतिपादित करना कि सभी अधिकार रीति-रिवाज और परम्पराओं की उपज होते हैं, गलत है। क्योंकि कुछ परम्पराएँ तो अत्यन्त खराब होती हैं। ऐसी परम्पराओं को कानून बनाकर प्रतिबन्धित कर दिया जाता है। वस्तुतः केवल कुछ ही अधिकार परम्पराओं की उपज हो सकते हैं; सभी नहीं।
2. **सभी परम्पराएँ अच्छी नहीं होती हैं**–परम्पराओं को इसलिए भी अधिकार का रूप नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि सभी परम्पराएँ अच्छी नहीं होती हैं। निःसन्देह दूषित परम्पराओं पर आधारित अधिकार भी दूषित ही होंगे। कुछ परम्पराएँ बहुत दूषित होती हैं, (सती प्रथा, दास प्रथा) जब कि अधिकारों का स्वरूप सदैव अच्छा होता है। दूसरे शब्दों में, ऐसी परम्पराओं को, जो सामाजिक हित में न हों, अधिकारों का आधार नहीं माना जा सकता है।
3. **सुधार की सम्भावना का अन्त**–यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाए कि अधिकार रीति-रिवाजों की उपज होते हैं, तब तो सुधार की सम्भावना का ही अन्त हो जाएगा, क्योंकि अच्छी-बुरी सभी परम्पराएँ अधिकार का रूप धारण कर लेंगी। यदि प्राचीन काल में सती प्रथा का प्रचलन था, तो इसका यह अर्थ तो नहीं है कि हम सती प्रथा को एक अधिकार के रूप में स्वीकार कर लें।

महत्त्व (Importance)–अधिकारों के ऐतिहासिक सिद्धांत की उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी यह सिद्धांत महत्त्वहीन नहीं है। यह सिद्धांत जिस सत्य का प्रतिपादन करता है, वह यह है कि अनेक अधिकार रीति-रिवाजों पर आधारित होते हैं।

4. अधिकारों का समाज-कल्याण सिद्धांत (Social Welfare Theroy of Rights)–इस सिद्धांत की प्रमुख मान्यता यह है कि अधिकारों का आधार समाज-कल्याण होता है। व्यक्ति की केवल वे ही माँगें अधिकार के रूप में स्वीकार की जाती हैं, जिनसे समाज-कल्याण में वृद्धि होती है। दूसरे शब्दों में, केवल उन अधिकारों को ही समाज की मान्यता मिलती है और राज्य द्वारा लागू किया जाता है, जो मानव के लिए हितकर होते हैं। अतः रीति-रिवाज, कानून आदि को समाज-कल्याण का सम्मान करना चाहिए और इनका उद्देश्य भी समाज-कल्याण होना चाहिए।

जेरेमी बैन्थम, जे. एस. मिल, हैरोल्ड जे. लॉस्की तथा चेफर (Chafer) आदि विद्वानों ने इस सिद्धांत का समर्थन किया है। **बैंथम** का कहना है कि **'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख'** का सिद्धांत ही इस बात को निश्चित करता है कि नागरिकों को कौन-कौन से अधिकार प्रदान किए जाएँ। **लॉस्की** ने भी उपयोगिता को अधिकारों के आधार के रूप में स्वीकार किया है। उसके शब्दों में, **"समाज-कल्याण के विरुद्ध मैं कोई अधिकार नहीं रखता हूँ, क्योंकि यह अन्ततः उस समाज-कल्याण के विरुद्ध मुझे अधिकार देना है, जो मेरे कल्याण से घनिष्ठ रूप से व अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है।"**[14] इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए **चेफी** ने कहा है कि **"अधिकारों का निर्धारण हितों के सन्तुलन द्वारा होता है।"**[15] संक्षेप में, यह सिद्धांत यह प्रतिपादित करता है कि अधिकार अनिवार्य रूप से समाज-कल्याण पर आधारित होते हैं। इस नाते व्यक्ति को केवल वे ही अधिकार प्राप्त होते हैं, जो समाज-कल्याण की वृद्धि करते हैं।

आलोचना (Criticism)—यद्यपि यह सिद्धांत अधिकारों की सन्तोषजनक व्याख्या करता प्रतीत होता है, लेकिन गहन अध्ययन से मालूम पड़ता है कि इसमें कई दोष हैं। इन दोषों के आधार पर इसकी निम्नलिखित आलोचनाएँ की गयी हैं—

1. **समाज-कल्याण की अस्पष्ट अवधारणा**—इस सिद्धांत का एक प्रमुख दोष यह है कि यह जिस समाज-कल्याण की बात करता है, उसकी अवधारणा स्पष्ट नहीं हैं। समाज-कल्याण की कोई निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती है। सामान्य रूप से, समाज-कल्याण से अभिप्राय 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख', 'बहुमत का सुख' या सार्वजनिक हित से होता है। यदि हम सुविधा के लिए इनमें से किसी एक को समाज-कल्याण मान लें, तब भी समस्या हल नहीं होती, क्योंकि इनमें से कोई भी शब्द स्वयं में स्पष्ट नहीं है।
2. **व्यक्तिगत हित और समाज-कल्याण में संघर्ष**—यह सिद्धांत इस बात की व्याख्या नहीं करता है कि जब कभी समाज-कल्याण और व्यक्तिगत हित में टकराव हो जाए, जिसकी प्रायः सम्भावना बनी होती है, तो दोनों में से किसको अधिकारों का आधार बनाया जाए। क्या समाज-कल्याण के लिए व्यक्तिगत हित का परित्याग कर दिया जाए? यदि हाँ, तो इससे व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाएगा। इसके अतिरिक्त, ऐसा करना न्यायोचित भी नहीं होगा कि किसी निर्दोष व्यक्ति के हित को समाज को प्रसन्न करने हेतु बलिदान कर दिया जाए। इस सिद्धांत को अपनाने का एक गम्भीर परिणाम अल्पसंख्यकों के हितों को हानि पहुँचाना भी हो सकता है।

महत्त्व (Importance)—इन आलोचनाओं के बाद भी, हम अधिकारों के समाज-कल्याण सिद्धांत की उपयोगिता की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। यह सिद्धांत जिस सत्य को प्रतिपादित करता है, वह यह है कि अधिकारों को सामाजिक हित ही न्यायोचित ठहराता है और इनका उपयोग भी सामाजिक हित में किया जाना चाहिए।

5. **अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धांत (Idealist Thery of Rights)**—आदर्शवादी सिद्धांत के अनुसार अधिकार वे बाह्य सुविधाएँ अथवा परिस्थितियाँ होती हैं, जो व्यक्ति के आत्म-विकास में सहायक होती हैं। क्योंकि व्यक्ति का लक्ष्य अपना नैतिक विकास या आत्म-विकास करना होता है और अधिकार उसके आत्म-विकास में सहायक होते हैं, इसी कारण ये स्वाभाविक रूप से व्यक्ति के दावे बन जाते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति का उद्देश्य एक आदर्श जीवन की प्राप्ति होता है, और अधिकार इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होते हैं, इसी कारण इसे अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धांत कहा जाता है।

इस सिद्धांत के प्रतिपादकों में **टी. एच. ग्रीन, क्रास, हेनरिसी** आदि विद्वानों की गिनती की जाती हैं। ग्रीन के अनुसार, **"अधिकार वह शक्ति है, जो किसी मनुष्य के लिए नैतिक जीवन के रूप में उसके व्यवसाय तथा कर्तव्य को पूरा करने के लिए आवश्यक है।"** इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए क्रास ने कहा है कि, **"अधिकार विवेकपूर्ण जीवन के विकास के लिए आवश्यक बाहरी परिस्थितियाँ हैं।"** हेनरिसी के मतानुसार **"अधिकार, वास्तव में, उन भौतिक परिस्थितियों को कायम रखता है, जो मानव व्यक्तित्व के अस्तित्व और पूर्णता के लिए आवश्यक होती हैं।"**[16] आदर्शवादी सिद्धांत इस तर्क को स्वीकार नहीं करता है कि मनुष्य के कुछ जन्म-सिद्ध अधिकार होते हैं। यह इस बात पर बल देता है कि मनुष्य कुछ प्राकृतिक शक्तियों के साथ उत्पन्न होता है और इन प्राकृतिक शक्तियों के विकास में उसके व्यक्तित्व का विकास निहित होता है। अन्य शब्दों में, व्यक्ति के विकास हेतु जो बाह्य परिस्थितियाँ अथवा जिस वातावरण की आवश्यकता पड़ती है, उसको ही अधिकार की संज्ञा दी जाती है और इन अधिकारों को सुनिश्चित करने का कार्य समाज या राज्य द्वारा किया जाता है। क्योंकि व्यक्ति के विकास के लिए जिन बाह्य परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, उनमें धर्म, उपासना, शिक्षा, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति आदि को शामिल किया जाता है, अतः ये व्यक्ति के अधिकार बन जाते हैं।

आलोचना (Criticism)—यद्यपि यह सिद्धांत अधिकारों की सन्तोषजनक व्याख्या करता प्रतीत होता है, फिर भी यह आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। अन्य सिद्धांतों की भाँति, इसमें भी कई दोष हैं; जैसे—

1. **यह अव्यावहारिक सिद्धांत है**—यह सिद्धांत इस रूप में अव्यावहारिक है कि यह व्यक्ति के व्यक्तित्व के जिस विकास की बात करता है, वह पूर्णतया एक आत्मनिष्ठ विषय है। राज्य या समाज के लिए इसका पता लगाना कठिन है कि किस बात से किस व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है और किस से नहीं।
2. **यह अवैज्ञानिक सिद्धांत है**—यह अवैज्ञानिक सिद्धांत है, क्योंकि यह इस बात की तर्कसंगत व्याख्या नहीं करता है कि कौन-सी बाह्य परिस्थितियाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं। यह स्पष्ट नहीं करता है कि क्या इस प्रकार का वस्तुनिष्ठ वातावरण तैयार किया जा सकता है, जो मानव के व्यक्तित्व का आवश्यक रूप से विकास कर सके।
3. **यह समाज को गौण स्थान देता है**—यह सिद्धांत समाज की उपेक्षा करता है, क्योंकि यह अधिकारों की व्याख्या व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के सन्दर्भ में ही करता है अर्थात् यह व्यक्ति पर अधिक बल देता है, जब कि देखने में यह भी आता है कि कभी-कभी व्यक्तिगत हित सामाजिक हित की उपेक्षा कर देता है।

महत्त्व (Importance)—अधिकारों के आदर्शवादी सिद्धांत का महत्त्व इस बात में है कि यह इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति के केवल वे ही दावे उसका अधिकार हो सकते हैं, जो उसके विकास में सहायक हों। यही अधिकारों का आधार है और यही इनकी कसौटी है।

अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धांत
(Marxist Theory of Rights.)

कार्ल मार्क्स 19वीं शताब्दी का प्रसिद्ध दार्शनिक रहा है। उसने विश्व को एक महान विचारधारा दी, जिसे उसके नाम पर मार्क्सवादी या साम्यवादी विचारधारा के नाम से जाना जाता है। मार्क्स ने अधिकारों के सम्बन्ध में अलग से कोई सिद्धांत प्रतिपादित नहीं किया है। मार्क्स और मार्क्सवादी विचारकों ने स्वतन्त्रता, समानता और न्याय के सिद्धांतों के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए हैं, उनका वर्णन मानवीय अधिकारों के सन्दर्भ में नहीं किया गया है। मार्क्सवादी चिन्तकों ने राज्य, स्वतन्त्रता, समानता आदि के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए है, वे मुख्यत: वैयक्तिक सम्पत्ति और वर्ग-संघर्ष से सम्बद्ध हैं। इनके बारे में विचार व्यक्त करते हुए मार्क्स ने पूँजीवादी राज्यों में प्रचलित अधिकार-प्रणाली या पूँजीवादी राज्यों द्वारा जनता को दिए गए अधिकारों की कठोर आलोचना की है। उसकी इस आलोचना और साम्यवादी सिद्धांत के सम्बन्ध में व्यक्त किए गए विचारों में ही अधिकारों का यह सिद्धांत निहित है। अधिकारों के मार्क्सवादी सिद्धांत की मूल विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

1. **अधिकारों का बुर्जुआ विचार (Bourgeoise Notion of Rights)**—यूरोप में 17वीं तथा 18वीं शताब्दी में उदारवादी-व्यक्तिवादी सिद्धांत प्रचलित था। इस सिद्धांत के समर्थकों ने व्यक्ति के अधिकारों पर विशेष बल दिया था। उदारवादी-व्यक्तिवादी विचारधारा 16वीं शताब्दी की धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुई थी। इस विचारधारा के समर्थकों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता के अतिरिक्त व्यक्ति की सम्पत्ति के अधिकार पर विशेष बल दिया था। यह विचारधारा यूरोप में पूँजीवादी प्रणाली स्थापित करने में सफल सिद्ध हुई। इस विचारधारा के आधार पर अनेक यूरोपियन देशों में पूँजीवादी सरकारें अस्तित्व में आयीं। इन सरकारों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति लागू की। इस नीति के कारण एक ओर पूँजीवादी प्रणाली सुदृढ़ हुई और दूसरी ओर श्रमिकों का पूँजीपतियों द्वारा व्यापक शोषण हुआ। ऐसी स्थिति में 19वीं शताब्दी के मध्य में मार्क्सवादी विचारधारा उत्पन्न हुई। मार्क्स तथा ऐंजल्स ने यह अनुभव किया कि व्यक्ति के अधिकारों का सिद्धांत केवल पूँजीपतियों के लिए है, क्योंकि इस सिद्धांत के पास श्रमिकों के लिए कुछ नहीं है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि अधिकार बुर्जुआ वर्ग अर्थात् पूँजीवादी वर्ग के हितों की ही पूर्ति करते हैं। व्यापार की स्वतन्त्रता, अनुबन्ध की स्वतन्त्रता, विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता, मतदान करने व चुनाव लड़ने की स्वतन्त्रता के अधिकार श्रमिकों के लिए बिलकुल उपयोगी नहीं है, क्योंकि जब तक उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों का अधिकार है, तब तक ये अधिकार बहुसंख्यक श्रमिक वर्ग के लिए निरर्थक हैं। मार्क्सवादी विद्वानों का मत है कि जिस समाज में वर्ग-विभाजन है, वहाँ अधिकारों का महत्त्व तथा लाभ केवल उस वर्ग के लिए ही हो सकता है, जिस वर्ग का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है।

2. **अधिकारों का सामाजिक स्वरूप (Social Character of Rights)**–कार्ल मार्क्स ने उदारवादी-व्यक्तिवादी सिद्धांत द्वारा पोषित अधिकारों का खण्डन ही नहीं किया है, बल्कि व्यक्ति के सम्बन्ध में इस सिद्धांत के मूल विचार को भी स्वीकार नहीं किया है। उदारवादी-व्यक्तिवादी सिद्धांत व्यक्ति को अहंवादी (Egoist) व स्व-केन्द्रित मानता है। व्यक्तिवादी-उदारवादी सिद्धांत ऐसे स्वार्थी तथा वैयक्तिक व्यक्ति की धारणा को स्वीकार करता है जिसे सामाजिक हितों की कोई विशेष चेतना नहीं है। यह सिद्धांत भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के समूह के हितों को ही सामाजिक हित मानता है, किन्तु मार्क्सवादी सिद्धांत व्यक्ति के विषय में ऐसे विचारों को स्वीकार नहीं करता। मार्क्सवादी विचारक कहते है कि अधिकार समाज से भिन्न अलगाववादी (Alienated) व्यक्ति को नहीं, बल्कि समाज के अभिन्न अंग के रूप में व्यक्ति को दिए जाते हैं। मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार, व्यक्ति को अधिकार समाज द्वारा दिए जाते हैं और समाज द्वारा ही इन अधिकारों का उपभोग करने के लिए अनिवार्य दशाओं की व्यवस्था की जाती है। अतः अधिकार समाज से पृथक रहने वाले व्यक्ति के लिए नहीं हैं, क्योंकि अधिकारों का सामाजिक स्वरूप होता है और अधिकारों की प्राप्ति समाज द्वारा विकसित अवस्थाओं में ही हो सकती है। मार्क्स ने एक ऐसे समाज की कल्पना की है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास सभी व्यक्तियों के स्वतन्त्र विकास के लिए अनिवार्य होगा। मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार समाज से अलग व्यक्ति की धारणा केवल एक कल्पना है। जब समाज में प्रत्येक व्यक्ति निजी हित की पूर्ति के लिए प्रयत्न करेगा, तो वह सामाजिक हित के विरुद्ध कार्य कर रहा होगा। इसलिए मार्क्सवाद व्यक्तिवादी-उदारवादी व्यक्ति के विचार को अस्वीकार करते हुए अधिकारों के सामाजिक स्वरूप पर बल दिया है।

3. **पूँजीवादी समाज में अधिकारों का स्वरूप (Nature of Rights in a Capitalist Society)**–मार्क्सवादी सिद्धांत अधिकारों को वर्गों (Classes) से सम्बद्ध कर देता है। इस सिद्धांत के अनुसार, अधिकारों का विकास वर्ग-संघर्ष का परिणाम है। जब 17वीं शताब्दी में नवीन पूँजीवादी वर्ग विकसित हो रहा था, तो इस वर्ग ने अपना प्रभुत्व बनाने के लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकारों के सिद्धांत पर बल दिया। इस नवीन पूँजीवादी वर्ग को अधिकारों के सिद्धांत की आवश्यकता थी, क्योंकि उस समय इसे सामन्तों से संघर्ष करना पड़ रहा था। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार पूँजीवादी समाज में अधिकारों की व्यवस्था सभी व्यक्तियों के लिए नहीं हो सकती है, क्योंकि सैद्धान्तिक रूप में तो अधिकार सभी व्यक्तियों के लिए हो सकते हैं, किन्तु व्यावहार में अधिकार केवल पूँजीपति वर्ग को ही प्राप्त होते हैं। मार्क्सवादी विद्वानों का दृढ़ विश्वास है कि अर्थव्यवस्था को नजरअन्दाज करके अधिकारों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अधिकार किसी समाज की आर्थिक प्रणाली तथा सामाजिक ढांचे का परिणाम होते हैं। पूँजीवादी समाज में दो परस्पर-विरोधी वर्ग होते हैं–पूँजीवादी वर्ग तथा श्रमिक वर्ग। प्रथम वर्ग के हाथों में उत्पादन के साधन होते हैं और दूसरा वर्ग उत्पादन के साधनों के स्वामियों को अपना श्रम बेचता है। ऐसी स्थिति में अधिकारों का श्रमिकों के लिए कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। अधिकारों का महत्त्व तो केवल पूँजीपती वर्ग के लिए ही होता है, क्योंकि आर्थिक शक्ति पर इनके नियन्त्रण के फलस्वरूप राजनीतिक शक्ति भी इन्हीं के हाथों में होती है। इस प्रकार मार्क्स का विचार है कि वर्गों में विभाजित समाज में अधिकारों का वर्गीय स्वरूप (Class Character) होता है, क्योंकि अधिकार वास्तव में धनी वर्ग को ही प्राप्त होते हैं। अपने इस मत की पुष्टि के लिए वह कहता है कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद (Dictatorship of Proletariat) में भी केवल शासक वर्ग अर्थात सर्वहारा वर्ग के लिए ही अधिकारों की व्यवस्था होगी। यह वर्ग श्रमिकों का वर्ग होगा, किन्तु जब वर्ग-विहीन एवं राज्य-विहीन समाज (Classless and Stateless Society) स्थापित हो जाएगा, तो फिर सत्तारुढ़ वर्ग के लिए अधिकारों की आवश्यकता नहीं रहेगी। संक्षेप में, मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार पूँजीवादी समाज में अधिकार केवल पूँजीपतियों के पास ही होते हैं; श्रमिकों के पास नहीं, क्योंकि इस वर्ग को अधिकारों से वंचित कर दिया जाता है।

4. **साम्यवादी व्यवस्था में अधिकारों का स्वरूप (Nature of Rights in Communist System)**–मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार अधिकारों के व्यक्तिवादी-उदारवादी सिद्धांत का कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं है, क्योंकि अधिकार केवल ऐसे समाज में ही सम्भव हो सकते हैं, जहाँ मानवीय शोषण, बेरोजगारी, निर्धनता आदि बातों का अभाव हो। इन बातों के चलते अधिकार केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से अधिकारों को उपयोगी बनाने के लिए मार्क्सवादी विद्वान अधिकारों की निम्नलिखित विशेषताओं पर बल देते हैं–

(i) सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों को प्रमुखता (Primacy to Social and Economic Rights)– मार्क्सवादी विद्वानों के अनुसार आर्थिक अधिकारों के बिना राजनीतिक अधिकार निरर्थक हैं। अन्य शब्दों में, आर्थिक अधिकारों को राजनीतिक अधिकारों की तुलना में प्रमुखता दी जानी चाहिए, क्योंकि आर्थिक अधिकारों की प्राप्ति के बिना राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करना असम्भव है। साम्यवादी नेता स्टालिन के अनुसार, **"एक बेरोजगार व्यक्ति, जिसे उसके परिश्रम का फल नहीं मिलता है और जो भूखा रहता है, की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता क्या हो सकती है? सच्ची स्वतन्त्रता केवल वहीं सम्भव है, जहाँ शोषण को नष्ट कर दिया गया हो; जहाँ कुछ व्यक्ति दूसरों का दमन न करते हो; जहाँ बेरोज़गारी व दरिद्रता न हो और जहाँ व्यक्ति को इस बात का भय हो कि वह कभी भी अपना रोजगार, अपना निवास स्थान और रोटी गँवा सकता है।"** इसलिए मार्क्सवादी विद्वान इस बात पर बल देते हैं कि व्यक्ति को राजनीतिक अधिकारों से पूर्व आर्थिक अधिकार दिया जाना अनिवार्य है, क्योंकि सच्ची स्वतन्त्रता केवल तब ही सम्भव हो सकती है, जब व्यक्ति को पूर्ण आर्थिक सुरक्षा प्राप्त हो।

(ii) राजनीतिक अधिकारों द्वारा समाजवादी व्यवस्था को सुदृढ़ बनाना (Socialist System to be Strengthened by Political Rights)–मार्क्सवादी विद्वानों का विचार है कि व्यक्तियों को दिए जाने वाले राजनीतिक अधिकार समाजवादी प्रणाली को सुदृढ़ बनाने वाले और श्रमिकों के हितों के अनुकूल होने चाहिए। इस विचार के दो अर्थ हैं–**प्रथम**, यह कि भाषण और विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता, सभाएँ करने की स्वतन्त्रता श्रमिकों के हितों के अनुकूल होनी चाहिएँ और **द्वितीय**, इन स्वतन्त्रताओं का प्रयोग इस प्रकार से किया जाए कि ये न केवल समाजवादी व्यवस्था के अनुरूप हों, बल्कि ये इस व्यवस्था को और अधिक सुदृढ़ बनाने वाली हों। स्पष्ट है कि मार्क्सवादी धारणा के अनुसार राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग समाजवादी व्यवस्था और श्रमिकों के हितों के विरुद्ध नहीं किया जा सकता है। अन्य शब्दों में, ऐसे अधिकारों के सहारे किसी अन्य राजनीतिक या आर्थिक व्यवस्था का प्रचार नहीं किया जा सकता है। विशिंस्की के शब्दों में, **"हमारे राज्य में समाजवाद के शत्रुओं के लिए भाषण देने या प्रेस की स्वतन्त्रता का कोई स्थान नहीं हो सकता है। यदि कोई व्यक्ति श्रमिकों को दी गयी इन स्वतन्त्रताओं का प्रयोग श्रमिकों के हितों के विरुद्ध करने का प्रयत्न करेगा, तो उसका ऐसा प्रयत्न क्रान्ति-विरोधी अपराध माना जाएगा।"**

(iii) **समुदाय या संघ बनाने का सीमित अधिकार (Limited Rights to Form Association)**–मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार नागरिकों को समुदाय या संघ बनाने का अधिकार दिया जा सकता है, किन्तु यह अधिकार असीमित नहीं हो सकता। समाजवादी व्यवस्था में नागरिकों को सार्वजनिक संगठन, व्यापारिक संघ, सहयोगी समुदाय, युवा संगठन आदि बनाने का अधिकार होता है। ऐसे संगठन व्यापारिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक आदि उद्देश्यों के लिए बनाए जा सकते हैं। किन्तु जहाँ तक राजनीतिक संगठन बनाने का सम्बन्ध है, मार्क्सवादी विचारक लोगों को ऐसे संगठन बनाने की आज्ञा नहीं देते हैं। समाजवादी राज्यों में साम्यवादी दल की विशेष स्थिति होती है और संवैधानिक तौर पर इस दल को ही श्रमिक वर्ग का अग्रिम दस्ता (Vanguard) माना जाता है। इसीलिए समाजवादी राज्यों में साम्यवादी दल के अतिरिक्त किसी अन्य राजनीतिक दल के निर्माण की आज्ञा नहीं होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि समाजवादी राज्य में लोगों को सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, कलात्मक, मनोरंजक, शैक्षणिक संगठन आदि बनाने का अधिकार प्राप्त हो सकता है, किन्तु राजनीतिक संगठन बनाने का अधिकार नहीं।

(iv) **व्यक्ति के अधिकारों की पूर्ति (Fulfilment of the Rights of Individual)**–मार्क्सवादी विद्वानों का विश्वास है कि संविधान में अधिकारों की लम्बी सूची अंकित करने से अधिकारों का उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता है, क्योंकि इन अधिकारों की पूर्ति के लिए आवश्यक दशाओं को विकसित करना अनिवार्य है। मार्क्सवादियों के इस विश्वास का अभिप्राय यह है कि समाजवादी राज्य में उन परिस्थितियों को विकसित करना अनिवार्य है, जो अधिकारों की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। उदाहरण के लिए कार्य के अधिकार का अर्थ यह है कि राज्य प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता और रुचि के अनुसार कार्य देने और कार्य के बदले

उचित वेतन देने की व्यवस्था करने के अतिरिक्त, कार्य करने के लिए अनुकूल दशाएँ भी उत्पन्न करे। इसी प्रकार शिक्षा के अधिकार का अर्थ यह है कि शिक्षा की प्राप्ति किसी व्यक्ति की वित्तीय क्षमता पर निर्भर नहीं होनी चाहिए, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। संक्षेप में, मार्क्सवादी सिद्धांत अधिकारों की प्राप्ति के लिए अनिवार्य परिस्थितियों के विकास पर बल देता है, क्योंकि ऐसी परिस्थितियों के बिना अधिकारों का संविधान में उल्लेख करने का कोई महत्त्व नहीं होता है।

(v) **अधिकारों में कर्तव्य निहित (Rights Imply Duties)**–मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार प्रत्येक अधिकार से कर्तव्य सम्बद्ध होता है। इस विचारधारा के अनुसार समाजवादी व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को **'योग्यता के अनुसार कार्य और कार्य के अनुसार वेतन'** प्राप्त होगा। किन्तु साम्यवादी व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को **'योग्यता के अनुसार काम और आवश्यकता के अनुसार वेतन'** दिया जाएगा। समाजवादी और साम्यवादी दोनों व्यवस्थाओं से स्पष्ट है कि श्रम करने पर ही वेतन प्राप्त होगा। इस प्रावधान से अधिकारों तथा कर्तव्यों का परस्पर-सम्बद्ध होना या अधिकार में ही कर्तव्य का निहित होना व्यक्त होता है। समाजवादी राज्यों में अधिकारों की सवैधानिक व्यवस्था की गयी है, किन्तु अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों को भी संविधान में समुचित स्थान दिया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि कर्तव्यों को पूरा किए बिना अधिकारों की प्राप्ति नहीं हो सकती। मार्क्सवादी विचारक अधिकारों तथा कर्तव्यों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं मानते हैं। इनके मतानुसार जहाँ व्यक्ति को कार्य करने का अधिकार है, वहाँ कार्य करना एक कर्तव्य भी है। इसी प्रकार जहाँ व्यक्ति को शिक्षा ग्रहण का अधिकार है, वहाँ शिक्षा ग्रहण करना व्यक्ति का कर्तव्य भी है।

(vi) **व्यक्ति और समाज के हित अनुकूल है (Interests of Individual and Society are Compatible)**–मार्क्सवादी विचारधारा व्यक्ति और समाज के हितों को परस्पर-विरोधी नहीं मानती है। इस विचारधारा के अनुसार समाज के हित और व्यक्ति के हित एक-दूसरे के अनुकूल हैं। इस नाते व्यक्ति को समाज के विरुद्ध कोई अधिकार नहीं दिया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि मार्क्सवादी विद्वान पूँजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति के हितों को समाज के हितों के अनुकूल नहीं मानते हैं, क्योंकि ऐसी व्यवस्था में समाज के हितों को पूँजीपति वर्ग के हितों के सन्दर्भ में समझा जाता है। केवल समाजवादी राज्यों में ही व्यक्ति का हित समाज के हित के अनुकूल हो सकता है और इसलिए समाजवादी राज्य में व्यक्ति के अधिकार समाज-विरोधी नहीं हो सकते हैं।

(vii) **अधिकारों की सुरक्षा (Protection of Rights)**–पूँजीवादी राज्यों में अधिकारों की रक्षा का कार्य स्वतन्त्र न्यायपालिका को सौंपा जाता है, किन्तु समाजवादी राज्यों में न्यायपालिका को स्वतन्त्र दर्जा नहीं दिया जाता है, इसलिए यह अधिकारों को सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकती है। किसी भी समाजवादी राज्य में न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review) की शक्ति प्राप्त नहीं है। अन्य शब्दों में, समाजवादी राज्य में अधिकारों की सुरक्षा का कार्य न्यायपालिका को नहीं सौंपा जाता है।

5. **साम्यवादी समाज में अधिकार (Rights in Communist Society)**–साम्यवादी समाज की स्थापना मार्क्सवादी विचारधारा का अन्तिम उद्देश्य है। ऐसे समाज में वर्गों (Classes) का अस्तित्व नहीं होगा और वर्गों का अस्तित्व नहीं होने के कारण राज्य का भी पतन हो जाएगा। ऐसे वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज में अधिकारों की कोई आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि अधिकार मुख्यतः वर्ग-संघर्ष की उपज होते हैं और इनका स्वरूप भी वर्गीय ही होता है। मार्क्स के मतानुसार साम्यवादी समाज (Communist Society) की स्थापना से पूर्व एक अस्थायी चरण और आएगा, जिसे उसने 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद' (Dictatorship of Proletariats) का नाम दिया है। ऐसे अधिनायकवाद को समाजवादी राज्य भी कहा जाता है। क्योंकि समाजवादी राज्य में वर्गों का अस्तित्व पूर्णतया समाप्त नहीं होगा, इसलिए ऐसे राज्य में अधिकारों की आवश्यकता बनी रहेगी। इस सम्बन्ध में लेनिन ने कहा है कि, **"साम्यवादी समाज के प्रथम चरण में, जिसे साधारणतः समाजवाद कहा जाता है, बुर्जुआ अधिकार को पूर्ण रूप से समाप्त नहीं किया जाएगा। बुर्जुआ अधिकार को केवल आर्थिक क्रान्ति के अनुपात में और उत्पादन के साधनों के सम्बन्ध में ही कुछ सीमा तक समाप्त किया जाएगा। बुर्जुआ अधिकार उत्पादन के साधनों को व्यक्तियों की वैयक्तिक सम्पत्ति के रूप में मान्यता देता है। समाजवाद इन्हें सार्वजनिक सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित कर देता है। केवल इसी सीमा तक ही बुर्जुआ अधिकार समाप्त होगा।"**

लेकिन इस कथन का अभिप्राय यह है कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद या समाजवादी राज्य में वर्गों का अस्तित्व पूर्ण रूप से समाप्त नहीं होगा और इसलिए ऐसे राज्य में अधिकारों का सिद्धांत पूँजीपति वर्ग के अधिकारों के रूप में प्रचलित रहेगा, किन्तु वर्ग-विहीन साम्यवादी समाज में पूर्ण समानता स्थापित हो जाएगी और वर्गों के समाप्त हो जाने के पश्चात् व्यक्ति के अधिकारों के सिद्धांत का कोई महत्त्व नहीं रह जाएगा।

6. **समाजवादी राज्य में विशिष्ट अधिकार (Specific Right in Socialist State)**—मार्क्सवादी धारणा के अनुसार समाजवादी राज्य के संविधानों में मुख्य रूप में निम्नलिखित अधिकारों की व्यवस्था की जाती है—
   (i) कार्य का अधिकार (Right to Work)
   (ii) विश्राम और अवकाश का अधिकार (Right to Rest and Leisure)
   (iii) स्वास्थ्य के संरक्षण का अधिकार (Right to Health Protection)
   (iv) आर्थिक सुरक्षा का अधिकार (Right to Economic Security)
   (v) शिक्षा का अधिकार (Right to Education)
   (vi) समुदाय या संघ बनने का अधिकार (Right to Form Association or Unions)
   (vii) मतदान करने तथा चुनाव लड़ने का अधिकार (Right to Vote and Contest Elections)
   (viii) भाषण तथा विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Speech and Expression)

   उल्लेखनीय है कि समाजवादी राज्यों में अधिकारों की व्यवस्था मार्क्सवादी धारणा के अनुसार ही की जाती है।

आलोचना (Criticism)—अधिकारों के सम्बन्ध में मार्क्सवादी सिद्धांत की साधारणतः निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गयी है—

1. **आधुनिक समाजों का बहुलवादी स्वरूप (Pluralistic Nature of Modern Societies)**—मार्क्सवादी विचारकों ने समाज की साधारण-सी रूप रेखा बतायी है। इनके अनुसार पूँजीवादी समाज में पूँजीपतियों और श्रमिकों के दो वर्ग होते हैं। ऐसा विचार आधुनिक बहुलवादी स्वरूप वाले समाज के लिए अनुपयुक्त है। किसी भी युग में कोई ऐसा समाज नहीं हुआ है, जहाँ केवल आर्थिक आधार पर ही वर्ग-विभाजन रहा हो और दो आर्थिक वर्गों के अतिरिक्त किसी और प्रकार के वर्गों का अस्तित्व न रहा हो। समाज में धार्मिक, सांस्कृतिक, जातीय आदि आधारों पर भी वर्ग मौजूद हो सकते हैं।
2. **अधिकार केवल धनी वर्ग के लिए नहीं होते (Rights are not only for Dominant Class)**—मार्क्सवादी विद्वानों का यह विचार भी मान्य नहीं है कि अधिकार केवल धनी वर्ग के हित में होते हैं। आधुनिक कल्याणकारी राज्य में श्रमिक वर्ग को व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। मार्क्स तथा एंजेल्स ने स्वयं स्वीकार किया था कि उदारवादी लोकतन्त्र में श्रमिकों ने भाषण तथा विचार अभिव्यक्ति करने, संघ बनाने आदि की स्वतन्त्रताओं का पूरा लाभ उठाया था और इन स्वतन्त्रताओं के फलस्वरूप इन्होंने स्वयं को संगठित किया था।
3. **राजनीतिक अधिकार महत्त्वहीन नहीं (Political Rights are not Insignificant)**—मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग केवल समाजवादी व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने और श्रमिकों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए किया जाना चाहिए। राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग का एक विशेष उद्देश्य निश्चित कर दिए जाने से इनका महत्त्व नहीं रह जाता है। जिन राजनीतिक अधिकारों का किसी राजनीतिक व्यवस्था के पक्ष-विपक्ष में प्रयोग नहीं किया जा सकता है, वे राजनीतिक अधिकार ही नहीं हो सकते हैं।
4. **साम्यवादी दल की प्रमुखता (Dominance of Communist Party)**—अधिकारों का मार्क्सवादी सिद्धांत इस दृष्टि से भी महत्त्वहीन लगता है कि समाजवादी राज्यों में साम्यवादी दल के अतिरिक्त किसी अन्य राजनीतिक दल या राजनीतिक संगठन के निर्माण की आज्ञा नहीं होती है। जब समाज में साम्यवादी दल की प्रमुखता होगी, तो फिर समुदाय या संघ बनाने के अधिकार का महत्त्व केवल साम्यवादियों के लिए ही रह जाएगा; गैर-साम्यवादियों के लिए नहीं।
5. **अधिकारों की सुरक्षा (Protection of Rights)**—ऐसे अधिकारों का कोई महत्त्व नहीं होता है, जिनकी सुरक्षा का संवैधानिक प्रबन्ध नहीं किया जाता। उदारवादी राज्यों में नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा का कार्य स्वतन्त्र न्यायपालिका को दिया जाता है। साधारणतः ऐसे राज्यों में न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति दी

जाती है, किन्तु मार्क्सवादी सिद्धांत के तहत अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए स्वतन्त्र न्यायपालिका या किसी और साधन की व्यवस्था नहीं की गयी है।

6. **पूर्ण समानता की स्थापना केवल एक कल्पना है (Establishment of Complete Equality is a Mere Speculation)**–मार्क्स ने वर्ग-विहीन तथा राज्य-विहीन समाज का सुंदर चित्र प्रस्तुत किया है, किन्तु व्यावहार में ऐसा समाज स्थापित नहीं किया जा सकता है। चीन तथा अन्य समाजवादी देशों के उदाहरण से स्पष्ट है कि यहां राज्य के विनाश का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

निष्कर्ष (Conclusion)–नि:सन्देह अधिकारों के मार्क्सवादी सिद्धांत में अनेक दोष हैं, फिर भी इस सिद्धांत के महत्त्व और उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि उदारवादी विद्वानों ने उभर रहे पूँजीपति वर्ग के हितों को ध्यान में रखते हुए अधिकारों के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। यह भी सत्य है कि कल्याणकारी राज्य के प्रादुर्भाव से पूर्व पूँजीवादी राज्यों में अधिकारों की उपयोगिता और महत्त्व केवल सम्पत्तिशाली व्यक्तियों के लिए ही होता था। अत: साधारण लोगों को अधिकारों का तभी कुछ लाभ हो सकता है, यदि मार्क्सवाद के इस विचार को कार्यान्वित किया जाए कि आर्थिक अधिकारों के अभाव में राजनीतिक अधिकारों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है।

लोकतान्त्रिक राज्य में नागरिकों के अधिकार
(Citizens' Rights in A Democratic State.)

अधिकार वे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दशाएँ हैं, जिनकी कसौटी पर हम किसी राज्य का मूल्यांकन कर सकते हैं। अन्य शब्दों में, कौन राज्य कितना अच्छा है, हम इस बात का निर्धारण इस आधार पर कर सकते हैं कि वह अपने नागरिकों को कौन-कौन से अधिकार और किस सीमा तक प्रदान करता है। जहाँ तक लोकतन्त्र का प्रश्न है, निःसन्देह लोकतन्त्र एक ऐसी शासन-प्रणाली है, जिसमें नागरिकों को व्यापक अधिकार प्राप्त होते हैं, किन्तु आज के युग में लोकतन्त्र भी कई रूप धारण कर चुका है; जैसे–उदारवादी लोकतन्त्र, समाजवादी लोकतन्त्र, जन लोकतन्त्र, मूलभूत लोकतन्त्र और निर्देशित लोकतन्त्र। इन लोकतान्त्रिक प्रणालियों में नागरिकों को समान अधिकार प्रदान नहीं किए गए हैं। अन्य शब्दों में, किसी लोकतान्त्रिक प्र में राजनीतिक अधिकारों पर बल दिया गया है, तो किसी में आर्थिक अधिकारों पर और किसी अन्य में अधिकारों के पर तानाशाही ही परोसी गयी है। अधिकारों को लेकर इन शासन-प्रणालियों में हमें और भी कई प्रकार की विभिन्नताएँ को मिलती हैं। फिर भी, हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि नागरिकों को कुछ निश्चित अधिकारों को उपलब्ध करा कोई भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था एक आदर्श लोकतान्त्रिक व्यवस्था का रूप धारण कर सकती है।

ऐसे अधिकारों, जो लोकतन्त्र को सर्वोत्कृष्ट रूप प्रदान करते हैं, में सामान्यतया निम्नलिखित अधिकारों की गिनती जा जाती है–

1. **जीवन का अधिकार (Right to Life)**–जीवन का अधिकार नागरिकों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अधिकार है क्योंकि इसके अभाव में अन्य अधिकारों के उपभोग का प्रश्न ही नहीं पैदा होता है। इसी कारण सभी राजनीति शास्त्री व्यक्ति के इस अधिकार के राज्य द्वारा संरक्षण का समर्थन करते हैं। यहाँ तक कि कुछ विद्वान राज्य द्वारा मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था का तीव्र विरोध करते हैं। महात्मा गाँधी, डां. सेठना, टैफ्ट आदि मृत्यु-दण्ड को अलग-अलग आधार पर गैर-न्यायोचित ठहराते हैं। टैफ्ट का इस विषय में कहना है, **"उस समाज को, जो जीवन को महत्त्व प्रदान करता है, इसको नहीं लेना चाहिए।"**[17] यह अधिकार इतना अधिक मूल्यवान है कि इसमें यह बात भी शामिल कर ली गयी है कि व्यक्ति को आत्म-हत्या करने का अधिकार नहीं है। **सन्त एक्वीनास** ने आत्म-हत्या को अपराध माना है। इस अधिकार के महत्त्व को देखते हुए ही भारत के संविधान में यह संशोधन किया गया है कि जीवन के अधिकार को किसी भी दशा में निलम्बित नहीं किया जा सकता है। भारत में मृत्यु-दण्ड भी अति सामान्य स्थिति (Rarest of the Rare Circumtances) में दिए जाने की व्यवस्था है।
2. **स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Freedom)**–स्वतन्त्रता व्यक्ति का एक ऐसा अधिकार है, जिसके अभाव में उसके व्यक्तित्व का बिल्कुल भी विकास नहीं हो सकता है। इस नाते यह अन्य सभी अधिकारों का स्रोत है वस्तुतः मानव चेतना ही स्वतन्त्रता चाहती है। इसके महत्त्व को देखकर ही व्यक्तिवादी विचारक इसको अक्षुण बनाए रखने के लिए सरकार के कार्यों को सीमित करने पर बल देते हैं। अतः एक सच्चे लोकतन्त्र में नागरिकों को इस अधिकार का प्रदान किया जाना आवश्यक है। स्वतन्त्रता के इस अधिकार में लेखन और विचार-अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, संघ बनाने की स्वतन्त्रता, घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता, व्यवसाय की स्वतन्त्रता, निवास करने की स्वतन्त्रता और शान्तिपूर्ण तरीकों से सभा करने की स्वतन्त्रता आदि को शामिल किया जाता है।
3. **समानता का अधिकार (Right to Equality)**–समानता का अधिकार एक प्रमुख लोकतान्त्रिक अधिकार है लोकतन्त्र सभी व्यक्तियों को समान मानकर चलता है। इसमें सभी व्यक्ति कानून की दृष्टि में समान होते हैं और सभी को कानून का समान संरक्षण प्राप्त होता है। अतः लोकतन्त्र में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच धर्म, नस्ल, लिंग भाषा आदि आधारों पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता है और न ही समाज के किसी वर्ग को किन्हीं विशेषाधिकारों से सुसज्जित किया जाता है। यह समानता न केवल सामाजिक, बल्कि राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी सुनिश्चित की जानी चाहिए अर्थात् धनी-निर्धन व काले-गोरे सभी नागरिकों को शासन के काम-काज में भाग लेने के समान अवसर प्रदान किए जाने चाहिएँ। सभी नागरिकों को आर्थिक विकास के समान अवसर उपलब्ध होने चाहिएँ। इस हेतु धन का न्यायसंगत वितरण करते हुए आर्थिक विषमता को समाप्त करने के प्रयत्न किए जाने चाहिए।
4. **शोषण के विरुद्ध अधिकार (Right against Exploitation)**–एक सच्चे लोकतन्त्र में नागरिकों को उनके आर्थिक शोषण के विरुद्ध अधिकार प्रदान किया जाना चाहिए। सरकार को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बूढ़े, बच्चे व महिलाओं का किसी भी प्रकार से आर्थिक शोषण न किया जाए। बूढ़े, अपंग, बीमार और बच्चों से कार्य न कराया जाए और जिन लोगों से कार्य कराया जाए, उन्हें उचित परिश्रमिक मिले। इसी तरह बेगार जैसी प्रथाओं का भी अन्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, कारखानों में कार्य करने वाले श्रमिकों के कार्य के घण्टे और वेतन आदि कानून द्वारा निर्धारित होने चाहिए।
5. **धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Religious Freedom)**–एक आदर्श लोकतन्त्र का यह भी कर्तव्य

है कि वह अपने नागरिकों को अपनी इच्छानुसार धर्म अपनाने तथा उपासना करने की स्वतन्त्रता प्रदान करे। नागरिकों पर शासन द्वारा कोई भी धर्म नहीं थोपा जाना चाहिए। ऐसा तब होता है, जब राज्य धर्म-निरपेक्षता का पोषक होता है। यदि किसी राज्य में अल्पसंख्यक हैं, तो उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता विशेष रूप से सुनिश्चित की जानी चाहिए। साथ ही, इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि उनके साथ धर्म के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं किया जाए।

6. **शिक्षा व संस्कृति का अधिकार (Right to Education and Culture)**–व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में शिक्षा व संस्कृति की अहम भूमिका होती है। अतः एक सच्चे लोकतन्त्र में नागरिकों को शिक्षा ग्रहण करने तथा अपनी संस्कृति का विकास करने का अधिकार होना चाहिए। राज्य को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि किसी भी नागरिक को शिक्षा ग्रहण करने से रोका न जाए और न ही सांस्कृतिक गतिविधियों में उसके भाग लेने पर कोई प्रतिबन्ध लगाया जाए। इसके अलावा, नागरिकों को अपनी शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करने की स्वतन्त्रता भी होनी चाहिए।

7. **विवाह एवं परिवार का अधिकार (Right to Marriage and Family)**–सामाजिक व्यवस्था में परिवार के महत्व को देखकर ही **अरस्तू** ने प्लेटो के पत्नियों के साम्यवाद की आलोचना की है। अतः एक अच्छा लोकतन्त्र वह होता है, जो प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्र रूप से विवाह करने, पति-पत्नी को साथ रहने तथा बच्चों का पालन-पोषण करने का अधिकार प्रदान करता हो। किन्तु यदि पति-पत्नी में किसी कारणवश तनाव रहने लगता है, तो दोनों को एक-दूसरे से अलग होने का अधिकार भी होना चाहिए।

8. **सम्पत्ति का अधिकार (Right to Property)**–सम्पत्ति भी व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में मुख्य भूमिका अदा करती है। व्यक्ति की भोजन, वस्त्र, आवास आदि आवश्यकताओं की पूर्ति सम्पत्ति द्वारा ही सम्भव है। अतः एक अच्छे लोकतन्त्र में सभी नागरिकों को सम्पत्ति रखने का अधिकार प्रदान किया जाना चाहिए। नागरिकों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित साधनों द्वारा धन कमाएँ। साथ ही, इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि नागरिक अपने इस अधिकार का दुरुपयोग न करें। व्यापक आर्थिक विषमता को बढ़ने से रोकने के लिए इस अधिकार को सीमित भी किया जाना चाहिए।

9. **आर्थिक अधिकार (Economic Rights)**–एक उत्तम लोकतन्त्र वह होता है, जहाँ नागरिकों को व्यापक आर्थिक अधिकार प्राप्त होते हैं। नागरिक को काम का अधिकार, विश्राम का अधिकार, वृद्धावस्था में पेंशन पाने का अधिकार तथा आवासीय सुविधा जैसे आर्थिक अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ। क्योंकि इन आर्थिक अधिकारों के अभाव में नागरिकों का विकास सम्भव नहीं होता है, अतः इनकी समुचित व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य है।

10. **राजनीतिक अधिकार (Political Rights)**–लोकतन्त्र को साकार करने के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों को शासन में भाग लेने का अधिकार प्रदान किया जाए। इसके लिए सभी नागरिकों को निर्वाचन में अपनी इच्छानुसार मत देने का अधिकार प्रदान किया जाना चाहिए और इस आधार पर उनके साथ किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिए। साथ ही, नागरिकों को चुनाव में भाग लेने का अधिकार भी दिया जाना चाहिए। यह व्यवस्था की जानी चाहिए कि निर्धारित योग्यता और नियमों का पालन करते हुए कोई भी नागरिक चुनाव लड़ सके। इसके अलावा, जनता का विश्वास खोने पर जनता को अपने प्रतिनिधि वापस बुलाने (Recall) का अधिकार होना चाहिए और उपाक्रम (Initiative) जनमत-संग्रह (Refrendum) के माध्यम से जनता को विधि-निर्माण के कार्य में सम्मिलित किया जाना चाहिए।

11. **शासन का विरोध करने का अधिकार (Right to Oppose Government)**–एक मुख्य राजनीतिक अधिकार, जो लोकतन्त्र में नागरिकों को अवश्य ही प्रदान किया जाना चाहिए, शासन की नीतियों की आलोचना करने का अधिकार है। यदि जनता यह अनुभव करे कि सरकार की नीतियाँ दोषपूर्ण हैं, तो जनता को यह अधिकार अवश्य ही होना चाहिए कि वह सरकार की नीतियों की आलोचना करके उसे सद्मार्ग पर चलने को विवश करे। इस विषय में **थॉमस हॉब्स** का कहना है, **"व्यक्ति के लिए शासक की आज्ञा का पालन करना उसी समय तक उचित है, जब तक शासक उसके प्राणों की रक्षा करता है।"** इसी तरह **टी. एच. ग्रीन** का मत है, **"व्यक्ति को सामान्य परिस्थितियों में राज्य के कानूनों का पालन अवश्य ही करना चाहिए। किन्तु यदि**

अधिकारों का महत्त्व (Significance of Rights)

अधिकार राजनीति विज्ञान की एक अति महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। राजनीतिक चिन्तन का एक मुख्य प्रश्न यह है कि व्यक्ति को कौन-कौन से और किस सीमा तक अधिकार प्रदान किए जाने चाहिए अर्थात राज्य सत्ता और व्यक्ति के अधिकारो में किस प्रकार ताल-मेल स्थापित किया जाना चाहिए। इस विषय पर विद्वानों ने अलग-अलग तरीके से विचार किया है और मूल प्रश्न के अलग-अलग उत्तर दिए हैं। इसीलिए कुछ विद्वानों ने व्यक्ति के आर्थिक अधिकारों पर बल दिया है, तो कुछ ने राजनीतिक अधिकारों पर। जहाँ तक अधिकारों के महत्त्व का प्रश्न है, इनके पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं-

1. **व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक (Necessary for the Development of Human Being)**–जिस प्रकार पौधे के विकास के लिए धूप और पानी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार व्यक्ति के विकास के लिए अधिकार आवश्यक हैं। अधिकारों के अभाव में व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता है। असल में, अधिकार वे बाह्य दशाएँ हैं, जिनमें रहकर व्यक्ति अपना विकास कर सकता है। **हैरोल्ड जे. लास्की** के मतानुसार अधिकार सामाजिक जीवन की वे दशाएँ है, जिनके बिना व्यक्ति सर्वोत्कृष्ट जीवन प्राप्त नहीं कर सकता है।
2. **राज्य की श्रेष्ठता की कसौटी (Yardstick for Good State)**–अधिकार राज्यों की श्रेष्ठता को मापने की कसौटी होते हैं। अन्य शब्दों में, किसी राज्य की श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर करती है कि वह अपने नागरिकों को किस सीमा तक अधिकार प्रदान करता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो राज्य जितने अधिक अधिकार अपने नागरिकों को प्रदान करता है, वह राज्य उतना ही अधिक श्रेष्ठ होता है। इस विषय में **हैरोल्ड जे. लास्की** का कहना है कि **''एक राज्य की पहचान उसके द्वारा अपने नागरिकों को दिए गए अधिकारों से होती है।''**
3. **सामाजिक विकास की पूर्व-शर्त (Pre-requisite for Social Development)**–अधिकार सामाजिक विकास की पूर्व-शर्त होते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिस समाज में व्यक्तियों को अधिकाधिक अधिकार प्राप्त होते हैं, वह एक प्रगतिशील समाज होता है और जिस समाज में व्यक्तियों या अधिकांश व्यक्तियों को अधिकारों से वंचित रखा जाता है, वह एक जड़ समाज होता है। प्राचीन यूनानी व भारतीय समाज के गौरव का एक कारण यह भी था।
4. **लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक (Necessary for the Success of Democracy)**–लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिए जनता को अधिकार दिए जाना आवश्यक है। यदि नागरिकों को मत देने का अधिकार, चुनाव लड़ने का अधिकार; सरकार की आलोचना करने का अधिकार व राजनीतिक दल स्थापित करने का अधिकार नहीं दिया जाएगा, तो लोकतन्त्र साकार नहीं हो पाएगा। वस्तुतः अधिकारों के अभाव में लोकतन्त्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।
5. **क्रान्ति का निवारण (Prevention of Revoltion)**–यदि सरकार देशवासियों को व्यापक अधिकार प्रदान करेगी तो देश में क्रान्ति नहीं होगी और शान्तिपूर्ण एवं संवैधानिक तरीकों से सत्ता-परिवर्तन का कार्य पूरा हो जाएगा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब शासकों ने जनता के अधिकारों का अतिक्रमण किया, जनता को हिंसक क्रान्ति का सहारा लेना पड़ा।
6. **राजनीतिक स्थायित्व की स्थापना (Maintence of Political Stability)**–अधिकार शासन को स्थायित्व प्रदान करने का कार्य करते हैं। जब कभी शासन द्वारा जनता को अधिकारों से वंचित किया जाता है, जनता में असन्तोष की भावना उत्पन्न होती है, जो बढ़ते-बढ़ते हिसंक क्रान्ति को जन्म देती है। इससे राजनीतिक जीवन में उथल-पुथल हो जाती है और समाज का विकास अवरूद्ध हो जाता है।

कर्तव्य
(Duties)

समाज में केवल अधिकारों की व्यवस्था ही काफी नहीं है, बल्कि अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों की भी व्यवस्था होनी चाहिए। विवेकशील या सभ्य व्यक्ति कर्तव्यों की अवहेलना नहीं करता है। समाज में रहते हुए वह न केवल अपने हितों की पूर्ति करता है, बल्कि दूसरों के हितों का भी ध्यान रखता है। दूसरों के हितों को ध्यान में रखने की प्रवृत्ति ही उसके कार्यों को जन-उपयोगी स्वरूप प्रदान करती है। व्यक्ति दूसरों के हितों की ओर ध्यान देने की भावना ही कर्तव्यों को जन्म देती है। कर्तव्यों के अभाव में अधिकार अमर्यादित एवं निरंकुश रूप धारण कर लेते हैं, जिनका दुरुपयोग निर्धन, असहाय व कमजोर व्यक्तियों के शोषण के लिए किया जाता है। वस्तुतः कर्तव्य ही अधिकारों को सामाजिक एवं कल्याणकारी बनाते हैं।

कर्तव्य का अर्थ (Meaning of Duty)–'ड्यूटी' (Duty) शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी भाषा के 'Debt' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है–ऋण। प्रत्येक नागरिक समाज या राज्य से उत्तम जीवन व्यतीत करने हेतु जो सुविधाएँ प्राप्त करता है, उन्हें हम अधिकार कहते हैं। व्यक्ति इन सुविधाओं के लिए समाज या राज्य का ऋणी होता है। इस ऋण को चुकाने के लिए व्यक्ति जो कार्य करता है, उसे कर्तव्य कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति के अपने दावे अधिकार और दूसरों के प्रति उसके दावे कर्तव्य कहलाते हैं। जो हम दूसरों से आशाएँ करते हैं, वे हमारे अधिकार हैं और जो दूसरों के प्रति हमारी अपेक्षाएँ हैं, वे हमारे कर्तव्य हैं। इस प्रकार कर्तव्य अधिकारों का प्रतिरूप हैं। अन्य शब्दों में, अधिकारों में ही कर्तव्य निहित हैं, क्योंकि कर्तव्यों के अभाव में अधिकार निरर्थक हो जाते हैं। वस्तुतः अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, जिन्हें एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है।

कर्तव्यों के विभिन्न प्रकार
(Different Kinds of Duties)

अधिकारों की तरह, कर्तव्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। सामान्यतया व्यक्ति के कर्तव्यों को पाँच भागों में विभाजित किया जाता है–(*i*) नैतिक कर्तव्य (Moral Duties), (*ii*) कानूनी कर्तव्य (Legal Duties), (*iii*) नागरिक कर्तव्य (Civic Duties), (*iv*) राजनीतिक कर्तव्य (Political Duties) और (*v*) मौलिक कर्तव्य (Fundamental Duties)।

इन कर्तव्यों में नैतिक एवं कानूनी कर्तव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आधुनिक समय में नागरिक के अपने राज्य या समाज के प्रति जो कानूनी व नैतिक होते हैं, उनका विवरण यहाँ प्रस्तुत है–

1. **कानूनी कर्तव्य (Legal Duties)**–कानूनी कर्तव्य व्यक्ति के वे कर्तव्य हैं, जो उसे अपने राज्य व सरकार के प्रति पूरे करने पड़ते हैं। इन कर्तव्यों का पालन करना व्यक्ति की इच्छा अथवा अन्तर्रात्मा पर निर्भर नहीं करता है। ये दण्डनीय होते हैं, क्योंकि इनका पालन न करने पर व्यक्ति को राज्य के कानूनों के अन्तर्गत दण्ड दिया जाता है। इनके पीछे राज्य की दण्डनीय शक्ति होती है, अतः व्यक्ति के लिए इन कर्तव्यों का पालन अनिवार्य है। कानूनी कर्तव्यों का निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन किया जा सकता है–

   (I) **देश-भक्ति (Patriotism)**–प्रत्येक नागरिक को अपने राज्य के प्रति वफादार रहना चाहिए। उसे राज्य के साथ कभी विश्वासघात नहीं करना चाहिए। कानूनी दृष्टि से राज्य के शत्रुओं की सहायता करने या उन्हें गुप्त भेद देना देश-द्रोह कहलाता है। ऐसे अपराध के लिए नागरिकों को आजीवन कैद से लेकर मृत्यु-दण्ड तक दिया जा सकता है। नागरिक को ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे राज्य की एकता एवं अखण्डता खतरे में पड़ती हो। नागरिकों को युद्ध तथा अन्य किसी संकट के समय अपने स्वार्थों को त्याग कर तन-मन-धन से देश की सेवा करनी चाहिए। देश-भक्ति के आधार पर ही नागरिक तथा विदेशी की पहचान होती है।

   (II) **कानूनों का पालन (Obeying Laws)**–प्रत्येक नागरिक को अपने राज्य के कानूनों का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए। कानून समाज में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने के लिए बनाए जाते हैं, इसलिए इनका पालन करना नागरिकों का कर्तव्य बन जाता है। कानूनों का उल्लंघन करना राज्य का विरोध करना है। यदि कोई कानून अनुचित है, तो नागरिकों को शान्तिपूर्ण ढंग से सरकार को उसे बदलने के लिए मजबूर करना

चाहिए; न कि कानून अपने हाथों में लेना चाहिए, क्योंकि कानून अपने हाथ में लेना अपराध ही होता है।

(III) शासकीय अधिकारियों के साथ सहयोग (Co-operation with Government Officials)—प्रत्येक नागरिक का यह भी कर्तव्य होता है कि वह अपराधी की खोज, शान्ति की स्थापना, महामारियों आदि की रोकथाम में शासकीय अधिकारियों को सहयोग करे। इसी प्रकार नागरिकों को जन-हित में किए जाने वाले कार्यों में सरकार को सहायता देनी चाहिए। उन्हें जमाखोरी तथा भ्रष्टाचार करने वाले लोगों की सूचना सरकार को देनी चाहिए; न्यायालयों में सच्ची गवाही देकर न्याय कार्य में सहायता करनी चाहिए तथा आवश्यक सामग्रियों के उचित वितरण तथा प्रबन्ध के सम्बन्ध में सही सूचनाएँ देकर शासकीय अधिकारियों के साथ सहयोग करना चाहिए।

(IV) करों की अदायगी (Payment of Taxes)—कर राज्य के आधार होते हैं, क्योंकि बिना धन के सरकार कोई काम नहीं कर सकती। सरकार अधिकांश धन करों द्वारा एकत्रित करती है। नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि राज्य की सेवाओं के बदले उसे करों की अदायगी के रूप में सहायता पहुँचाएँ। राज्य नागरिकों के जान-माल की सुरक्षा, स्वास्थ्य, शिक्षा बिजली, पानी आदि की व्यवस्था करता है। नागरिक इन सुविधाओं का तब ही लाभ उठा सकते हैं, जब वे करों का समय पर भुगतान करते रहें तथा करों की चोरी न करें।

(V) मताधिकार का उचित प्रयोग (Proper Use of Right to Vote)—लोकतंत्र में सभी नागरिकों को मतदान का अधिकार प्राप्त होता है। प्रत्येक नागरिक को अपने मत का उचित प्रकार से प्रयोग करना चाहिए अथार्त उसे जन-हित को ध्यान में रखते हुए योग्य व्यक्ति को अपना मत देना चाहिए। उसे मतदान करते समय जातिवाद, साम्प्रदायिकता, नस्लवाद आदि भावनाएँ नहीं अपनानी चाहिएँ, जिससे कि सत्ता अयोग्य तथा भ्रष्ट व्यक्तियों के हाथों में न जाए। अतः नागरिक का परम कर्तव्य है कि वह निःस्वार्थ तरीके से अपने मत का प्रयोग करे।

(VI) सार्वजनिक सेवा के लिए तत्पर (Ready to Perform Public Service)—जब कभी किसी नागरिक से स्थानीय अथवा राष्ट्रीय संस्थाओं का सदस्य बनने के लिए कहा जाए, तो उसे सदैव इसके लिए तत्पर रहना चाहिए। यदि वह किसी सरकारी नौकरी के योग्य हो, तो राज्य की आवश्यकतानुसार उसे इसके लिए भी स्वयं को प्रस्तुत करना चाहिए।

(VII) सेना में भर्ती होना (Joining Army)—राज्य को बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के लिए सुसंगठित सेना की आवश्यकता होती है, इसलिए नागरिकों को सेना में भर्ती होकर देश की रक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिए। कभी-कभी आपातकाल में सेना देश की रक्षा करने के लिए काफी नहीं होती है, अतः साधारण नागरिकों को भी सैनिक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर वे द्वितीय सुरक्षा पंक्ति में खड़ा हो सकें।

(VIII) राजनीति में बुद्धिमत्तापूर्ण भागीदारी (Intelligent Participation in Politics)—प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह देश की राजनीति में पूरी समझदारी से भाग ले और किसी के झूठे बहकावे में न आए। प्रत्येक नागरिक को चाहिए कि वह राष्ट्रीय समस्याओं को भली प्रकार समझे तथा उनको सुलझाने का प्रयत्न करे। वह संकुचित दलबन्दी से ऊपर रहते हुए राष्ट्र-विरोधी प्रचार रोकने के लिए उपाय करे; सभी वर्गों के हितों की रक्षा करे तथा सार्वजनिक मुद्दों पर सहिष्णुता दिखाएँ।

(IX) सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा (Protection of Public Property)—प्रत्येक नागरिक का यह भी कर्तव्य है कि वह सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करे; रेल, डाक, तार, तेल के कुएँ, पेट्रोल पम्प आदि को नष्ट होने से बचाए तथा तोड़-फोड़ करने वालों की सूचना सरकार को दे। रूस में सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करना व्यक्ति का संवैधानिक कर्तव्य घोषित किया गया है। वहाँ इस अपराध के दोषी को मृत्यु-दण्ड तक दिया जा सकता है।

2. नैतिक कर्तव्य (Moral Duties)—समाज तथा राष्ट्र को उन्नत बनाने के लिए नागरिकों को नैतिक कर्तव्यों का भी पालन करना चाहिए। नागरिक के राज्य के प्रति जो कर्तव्य हैं, उनका पालन न करने पर राज्य जबरन नागरिकों से उनका पालन करवा सकता है। किन्तु नैतिक कर्तव्य नागरिक की स्वेच्छा पर निर्भर होते हैं। यद्यपि इनकी उपेक्षा

करने पर नागरिकों को कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता है, फिर भी एक आदर्श समाज स्थापित करने के लिए निम्नलिखित कर्तव्यों का पालन करना प्रत्येक नागरिक का धर्म है–

(I) **श्रेष्ठ इंसान बनना (To become a Good Man)**–एक नागरिक को अच्छा इंसान भी बनना चाहिए। उसे सदा सच बोलना चाहिए, क्योंकि झूठे आदमी पर कोई विश्वास नहीं करता है। उसे सदैव ईमानदारी से कार्य करना चाहिए। वह जो भी व्यवसाय या सेवा करे, उसमें धोखेबाजी, बेईमानी अथवा हेरा-फेरी न करे। वह सभी की सहायता करने तथा धर्मानुसार चलने का प्रयत्न करे। उसे मृदु-भाषी, दयावान तथा अहिंसक प्रवृत्ति का बनना चाहिए। इन्हीं नैतिक गुणों के आधार पर नागरिक अपने कर्तव्यों का अच्छी प्रकार से पालन कर सकता है।

(II) **अपने प्रति कर्तव्य (Duties towards Self)**–व्यक्ति के अपने प्रति भी कुछ कर्तव्य होते हैं। अच्छे सामाजिक जीवन के लिए नागरिकों का प्रगतिशील होना बहुत जरूरी है। इसलिए व्यक्ति को अपने सर्वोन्मुखी विकास पर ध्यान देना चाहिए। उसे शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए और अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए, जिससे उसका ठीक प्रकार से शारीरिक तथा मानसिक विकास हो सके। साथ ही, उसे नागरिक गुणों को धारण करना चाहिए। उसे सहयोग, सहनशीलता, सहानुभूति, आत्म-संयम (Self-control), सत्य-भाषण आदि गुणों को धारण करना चाहिए, ताकि उसके अन्दर आत्म-विश्वास (Self-confidence) और उत्तरदायित्व की भावना (Sense of Responsibility) आदि गुण विकसित हो सकें।

(III) **अपने परिवार के प्रति कर्तव्य (Duties towards One's Family)**–जिस प्रकार एक व्यक्ति के अपने प्रति कर्तव्य होते हैं, ताकि वह अपना विकास तथा समाज-सेवा कर सके, उसी प्रकार उसके अपने परिवार के सदस्यों के प्रति भी कुछ कर्तव्य होते हैं। उसे चाहिए कि वह परिवार के दूसरे सदस्यों को विकास के समान अवसर प्रदान करे और उन्हें प्रसन्नतापूर्वक रहने का अवसर दे। उसे परिवार के अच्छे रीति-रिवाजों को मानना चाहिए और बुरे रीति-रिवाजों को छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपने माता-पिता और अन्य वृद्धों का आदर करे तथा अपने छोटे भाई-बहनों और बच्चों से प्रेम करे।

(IV) **पड़ोसी के प्रति कर्तव्य (Duties towards Neighbour)**–प्रत्येक नागरिक के अपने पड़ोसी के प्रति भी कुछ कर्तव्य होते हैं। नागरिक शास्त्र अच्छे पड़ोसी-धर्म के पालन की शिक्षा पर बल देता है। नागरिक को अपने पड़ोसी के साथ प्रेम और सहिष्णुता का व्यवहार करना चाहिए। उसे अपने पड़ोसी की सुख-दुःख में सहायता करनी चाहिए। उसे अपने घर का कूड़ा-कचरा पड़ोसी के घर के सामने नहीं फेंकना चाहिए। उसे छोटी-छोटी बातों को लेकर पड़ोसी से झगड़ा नहीं करना चाहिए। उसे पड़ोसी के साथ अपने सगे-सम्बन्धियों से भी अच्छा व्यवहार करना चाहिए। अच्छा पड़ोसी बनना ही उत्तम नागरिकता है।

(V) **अपने गाँव, नगर व प्रान्त के प्रति कर्तव्य (Duties towards One's Village, Town and Province)**–प्रत्येक नागरिक के अपने ग्राम, नगर व प्रान्त के प्रति भी कर्तव्य होते हैं। नागरिक को अपने निवास-स्थान को साफ-सुथरा रखकर गाँव में सफाई व स्वच्छता बनाए रखने में सहायता करनी चाहिए। उसे गलियों व सड़कों में कूड़ा-करकट नहीं फेंकना चाहिए। उसे नगर पंचायत या नगर परिषद् के कार्यों में सहयोग देना चाहिए। वह जिस सेवा के योग्य हो, उसे उस सेवा को निःस्वार्थ रूप से करना चाहिए। उसे अपने प्रान्त के लोगों के हितों की ओर ध्यान देना चाहिए। उसे अकाल, बाढ़, टिड्डी दल, महामारी या अन्य विपत्तियों के आने पर अपने प्रान्त की सहायता करनी चाहिए। उसे प्रान्त में रहने वाले सभी लोगों में सौहार्द उत्पन्न करना चाहिए।

(VI) **देश के प्रति कर्तव्य (Duties towards One's Country)**–प्रत्येक नागरिक के अपने देश के प्रति भी कुछ कर्तव्य होते हैं, क्योंकि देश सदैव प्रान्त, नगर तथा परिवार से ऊपर होता है। यदि देश स्वतन्त्र रहेगा, तो नागरिक भी स्वतन्त्र व सुखी रह सकेंगे, अन्यथा नहीं। इसलिए प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए सर्वस्व बलिदान करने को तैयार रहे। वह सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करके आक्रमणकारी के विरुद्ध हथियार उठाने के लिए सदैव तत्पर रहे। वह सेना, प्रादेशिक सेना, होम गार्ड या एन.सी.सी. में भर्ती होकर राष्ट्रीय एकता, शांति तथा व्यवस्था बनाए रखने में सहयोग दे। वह क्षेत्रवाद,

जातिवाद या भाषावाद के विवादों में न पड़े; सहिष्णुता तथा भाई-चारे की भावना पैदा करे; सरकार के साथ पूर्ण सहयोग करे; विदेशी एजेण्टों से सतर्क रहे तथा उनकी सूचना पुलिस को दे; भ्रष्टाचार, जमाखोरी, काला-बाजारी तथा मुनाफाखोरी न करे और आर्थिक योजनाओं को सफल बनाने में सरकार की सहायता करे।

(VII) **विश्व के प्रति कर्तव्य (Duties towards World)**–जहाँ नागरिक के अपने देश के प्रति कर्तव्य होते हैं, वहाँ उसके विश्व के प्रति भी कुछ कर्तव्य अवश्य होते हैं। अत: उसे स्वयं को अपने देश का ही नहीं, बल्कि विश्व का नागरिक समझना चाहिए। आज विश्व एक बड़ा गाँव बन चुका है, इसलिए उसे सभी देशों के लोगों के प्रति सद्भावना रखनी चाहिए। उसे विश्व-शान्ति स्थापित करने में पूर्ण सहयोग देना चाहिए। उसे गुलाम तथा पिछड़े देशों को स्वतन्त्र तथा उन्नत बनाने के लिए साम्राज्यवादी ताकतों का डटकर विरोध करना चाहिए। नागरिक का कर्तव्य है कि वह विनाशकारी अस्त्रों की होड़ का विरोध करे तथा पर्यावरण संरक्षण के लिए प्रयत्न करे। संक्षेप में, नागरिक को सम्पूर्ण मानवता की भलाई के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

2 अधिकारों तथा कर्त्तव्यों में सम्बन्ध
(RELATIONSHIP BETWEEN RIGHTS AND DUTIES)

कर्त्तव्य
(DUTIES)

कर्त्तव्य क्या है ? (What is Duty ?)—व्यक्ति अपने हितों के लिए स्वेच्छा से कई कार्य करता है और कई कार्य नहीं करता है। स्वेच्छा से कार्य करने या न करने को कर्त्तव्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसा करने से समाज में अराजकता (Anarchy) फैल जाएगी। कर्त्तव्य से भावार्थ उन कार्यों से है जो व्यक्ति अपने हितों के लिए स्वेच्छा से नहीं करता बल्कि निश्चित नैतिक सिद्धान्तों (Moral Principles) और कानूनों के आधार पर करता है। समाज के नैतिक सिद्धान्त और राज्य के कानून व्यक्ति के लिए कुछ कार्य करने के लिए और कुछ न करने के लिए निश्चित करते हैं। इन निश्चित कार्यों के पालन को ही कर्त्तव्य कहा जाता है। यहां यह बात वर्णनीय है कि ऐसा निश्चित कार्यों का पालन करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं होता बल्कि इन कार्यों का पालन करना व्यक्ति के लिए अनिवार्य होता है। हमारे स्वर्गीय राष्ट्रपति डॉ० ज़ाकिर हुसैन के शब्दों में, "कर्त्तव्य आज्ञा का अन्धाधुन्ध पालन नहीं है बल्कि यह अपने प्रतिबन्धों और दायित्वों को पूर्ण करने की तीव्र इच्छा है।"[1]

कर्त्तव्यों के रूप
(KINDS OF DUTIES)

मुख्य रूप में कर्त्तव्यों का विभाजन दो वर्गों में किया जा सकता है—

1. नैतिक कर्त्तव्य (Moral Duties)
2. कानूनी या वैधानिक कर्त्तव्य (Legal Duties)

नैतिक कर्त्तव्य
(MORAL DUTIES)

नैतिक कर्त्तव्य से अभिप्राय उन कर्त्तव्य से है जिनके पीछे संवैधानिक शक्ति नहीं होती। साधारण शब्दों में, ऐसे कर्त्तव्य जिनकी अवहेलना करने से राज्य के किसी कानून की अवहेलना नहीं होती और जिनका पालन करवाने के लिए कानून की शरण नहीं ली जा सकती, नैतिक कर्त्तव्य होते हैं। उदाहरणस्वरूप प्रत्येक युवक का कर्त्तव्य है कि वह अपने बुजुर्ग माता-पिता की सेवा करे परन्तु यदि कोई युवक अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता तो राज्य का कोई कानून उसको ऐसा करने के लिए विवश नहीं कर सकता। यह नैतिक कर्त्तव्य है क्योंकि इस कर्त्तव्य के पीछे कोई वैधानिक शक्ति नहीं है।

कानूनी या वैधानिक कर्त्तव्य
(LEGAL DUTIES)

वैधानिक कर्त्तव्य वे कर्त्तव्य हैं जिनके पीछे राज्य के कानूनों की शक्ति है। दूसरे शब्दों, में वे कर्त्तव्य जिनकी अवहेलना होने से राज्य के किसी कानून की अवहेलना होती है और जिनका पालन करवाने के लिए राज्य के कानून की शरण ली जा सकती है, वैधानिक कर्त्तव्य होते हैं। जो व्यक्ति अपने वैधानिक कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता राज्य द्वारा उसको दण्ड दिया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, राज्य द्वारा लगाए करों (Taxes) को सरकारी कोष में जमा करवाना नागरिक के वैधानिक कर्त्तव्य है। यदि कोई नागरिक अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता तो उसके विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही कर के उससे कर भी वसूल किए जा सकते हैं और कानून अनुसार इसको दण्ड भी दिया जा सकता है।

मौलिक कर्त्तव्य
(FUNDAMENTAL DUTIES)

अधिकार तथा कर्त्तव्य परस्पर सम्बन्धित हैं। मौलिक कर्त्तव्यों के बिना मौलिक अधिकारों का पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। मौलिक कर्त्तव्यों का अर्थ ऐसे कर्त्तव्यों से है जिनका पालन व्यक्तिगत विकास तथा सामाजिक कल्याण के लिए अनिवार्य है। ऐसे कर्त्तव्यों को भी मौलिक कर्त्तव्य कहा जाता है जिसकी व्यवस्था सर्वोच्च संविधान में की जाती है तथा जिनके पालन को विश्वसनीय बनाने के लिए आवश्यक व्यवस्थाएं संविधान में की जाती हैं। समाजवादी देशों के संविधानों के मौलिक अधिकारों के साथ-साथ मौलिक कर्त्तव्यों की भी व्यवस्था प्रायः की जाती है। चीन विश्व का पहला समाजवादी देश है उसने अपने संविधान में मौलिक कर्त्तव्यों की व्यवस्था की है। चीनी संविधान में भी यह व्यवस्था है कि नागरिकों के अधिकारों के प्रयोग को उनके कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्वों के पालन से पृथक् नहीं किया जा सकता। समाजवादी देशों के अतिरिक्त कुछ पाश्चात्य लोकतन्त्रीय देशों के संविधान में भी कर्त्तव्यों की व्यवस्था की गई है। जापान का संविधान नागरिकों के महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों की व्यवस्था करता है। भारत में संविधान में भी मौलिक कर्त्तव्यों की व्यवस्था है।

अधिकारों तथा कर्त्तव्यों में सम्बन्ध
(RELATIONS BETWEEN RIGHTS AND DUTIES)

अथवा

अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं
(RIGHTS AND DUTIES ARE THE TWO SIDES OF THE SAME COIN)

अथवा

अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर सम्बन्धित हैं
(RIGHTS AND DUTIES ARE CO-RELATIVE)

अथवा

अधिकार में कर्त्तव्य निहित हैं
(RIGHTS IMPLY DUTIES)

अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर सम्बन्धित हैं। जहां व्यक्ति के विकास के लिए राज्य और समाज उसको अनेक अधिकार देते हैं वहां व्यक्ति से समाज और राज्य कुछ कर्त्तव्यों की आशा भी करते हैं। कर्त्तव्यों का पालन किए बिना व्यक्ति अधिकारों का अधिकारी नहीं बन सकता। अधिकार उस फल के समान है, जिस फल की प्राप्ति कर्त्तव्यों का बीज बोने के बिना नहीं हो सकती। मनुष्य अपने अधिकारों का प्रयोग तभी कर सकता है यदि वह अपने कर्त्तव्यों के प्रति सच्चा हो। अधिकारों और कर्त्तव्यों का इतना गहरा सम्बन्ध है कि इनको पृथक् करना सम्भव नहीं है क्योंकि एक के बिना दूसरे का महत्त्व कम हो जाता है। इस कथन के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं—

1. प्रत्येक अधिकार में एक कर्त्तव्य सम्बन्धित है (Every right has a corresponding Duty)—नागरिकों को अनेक प्रकार के अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त होते हैं। यद्यपि राज्य की ओर से संविधान में अधिकारों के साथ सम्बन्धित कर्त्तव्यों का वर्णन न किया जाए तो भी प्रत्येक अधिकार के साथ सम्बन्धित उसका कर्त्तव्य भी है। मेरे जो अधिकार हैं वे दूसरे

व्यक्तियों के लिए कुछ कर्त्तव्य निश्चित करते हैं। उदाहरणस्वरूप, मेरे पास जीवन का अधिकार है और मैं इस अधिकार का तभी उपयोग कर सकता हूं यदि दूसरे व्यक्ति मेरे इस अधिकार के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करें। मेरे जीवन के अधिकार के साथ दूसरे व्यक्तियों का कर्त्तव्य बन जाता है कि वह मुझे किसी प्रकार का शारीरिक कष्ट न पहुंचाएं। इसी प्रकार मेरी सम्पत्ति का अधिकार दूसरे के लिए कर्त्तव्य निश्चित करता है कि वह मेरी सम्पत्ति को न तो कोई नुकसान पहुंचाए और न ही उसको लूटने आदि का यत्न करे। सच यह है कि जो वस्तु एक व्यक्ति के लिए अधिकार है वह दूसरे के लिए कर्त्तव्य है।

2. अधिकार स्वयमेव एक कर्त्तव्य भी है (A right is also a duty in Itself)—अधिकारों और कर्त्तव्यों का एक सम्बन्ध यह भी है कि प्रत्येक अधिकार स्वयमेव कर्त्तव्य भी है। यदि ऐसा न हो तो प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकार का उपयोग करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सकेगा। एक व्यक्ति को जहां अनेक प्रकार के अधिकार मिलते हैं वहां उन अधिकारों के साथ उसको यह कर्त्तव्य भी प्राप्त होता है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि जो अधिकार इसको मिले हैं, इस प्रकार के अधिकार अन्य सभी व्यक्तियों को भी मिले हैं। इसलिए व्यक्ति को अपने अधिकार का प्रयोग इस ढंग से करना चाहिए कि दूसरे के अधिकारों का उल्लंघन न हो और न ही उसके अधिकारों का प्रयोग दूसरे व्यक्तियों के अधिकार का उपयोग करने में बाधा सिद्ध हो।

उदाहरणस्वरूप सरकारी सड़कों का प्रयोग करना मेरा अधिकार है, परन्तु इसके साथ मेरा कर्त्तव्य भी है कि मैं दूसरों के अधिकार को पहचानता हुआ अपने अधिकार का लाभ इस ढंग से लेने का यत्न करूं कि दूसरे व्यक्ति भी अपने अधिकारों का पूर्ण रूप से उपभोग कर सकें।

3. प्रत्येक अधिकार के साथ अपने उचित प्रयोग का कर्त्तव्य शामिल है (Every right has a duty of its proper Use)—नागरिक को अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं। इन अधिकारों से सम्बन्धित नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह इन अधिकारों का उचित प्रयोग करे। यदि अधिकारों का उचित प्रयोग न किया जाए तो इसके कई भयानक परिणाम निकलते हैं। उदाहरणस्वरूप प्रजातन्त्रीय प्रणाली में प्रत्येक नागरिक को मत देने का अधिकार प्राप्त होता है। यदि नागरिक इस अधिकार का प्रयोग करते समय लापरवाही से कार्य करेंगे तो देश में स्वार्थी लोगों की सरकार स्थापित हो जाएगी।

4. प्रत्येक अधिकार अपने साथ सामाजिक कल्याण का कर्त्तव्य रखता है (Every right carries the duty towards social Welfare)—व्यक्ति समाज का एक अटूट अंग है। उसका जीवित रहना और विकास करना केवल समाज में ही सम्भव है। नागरिक को अधिकार भी समाज में ही प्राप्त हो सकते हैं। समाज से बाहर अधिकारों का होना सम्भव नहीं। समाज ही मनुष्य की रक्षा का उत्तरदायी है। जहां समाज व्यक्ति के लिए इतनी उपयोगी होती है वहां व्यक्ति के भी समाज के प्रति कर्त्तव्य होते हैं। उन कर्त्तव्यों में से एक प्रमुख कर्त्तव्य यह है कि वह अपने अधिकारों का प्रयोग समाज के कल्याण के लिए करे।

5. प्रत्येक अधिकार में राज्य के प्रति कर्त्तव्य (Every right has duty towards State)—व्यक्ति जो राज्य द्वारा ही अधिकार प्राप्त होते हैं। राज्य ही उनकी सुरक्षा के लिए उत्तरदायी है। नागरिक इन अधिकारों का राज्य में ही उपयोग कर सकता है। राज्य से बाहर अधिकारों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राज्य ही ऐसा समृद्ध वातावरण उत्पन्न करता है जिसमें नागरिक अपने अधिकारों का उपयोग कर सकता है। व्यक्ति के लिए राज्य हर प्रकार की सुविधा देता है ताकि उसके जीवन का सर्वोन्मुखी विकास हो सके। इन अधिकारों के साथ व्यक्ति का राज्य के प्रति यह कर्त्तव्य बनता है कि वह राज्य में प्रत्येक कानून की आज्ञा का पालन करे और राज्य को प्रत्येक क्षेत्र में सहायता दे।

6. अधिकार एवं कर्त्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं (Rights and Duties are Complement to each other)—साधारणत: अधिकार तथा कर्त्तव्य एक-दूसरे के विरोधी माने जाते हैं। अधिकार प्राप्त करके मनुष्य आनन्द अनुभव करता है। जबकि कर्त्तव्य उसे एक भार के रूप में दिखाई देता है। वह मनुष्य की मूल प्रकृति है। किन्तु हम जनते हैं, कि बिना कर्त्तव्य किए अधिकारों का जन्म ही नहीं होता इसलिए यह कहा जाता है, कि अधिकार तथा कर्त्तव्य एक सिक्के के दो पहलू हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

7. अधिकारों का उचित प्रयोग (Proper use of Rights)—अधिकारों का सदुपयोग करना भी व्यक्ति का कर्त्तव्य है। अधिकारों के दुरुपयोग से दूसरों को हानि पहुंचती है और ऐसा करने की स्वीकृति समाज द्वारा नहीं दी जा सकती। एक व्यक्ति को यदि बोलने और भाषण देने की स्वतन्त्रता दी गई है वह इस अधिकार का दूसरों का अपमान करने, दूसरों को गाली निकालने, अफवाह फैलाने तथा लोगों को भड़काने आदि में प्रयोग नहीं कर सकता। ऐसा करने पर उसका अधिकार छीन लिया

जाएगा। उसका कर्त्तव्य है कि वह अधिकारों का प्रयोग ठीक ढंग से और अच्छे कार्यों में करें। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अधिकारों का प्रयोग रचनात्मक ढंग से करे, नष्ट-भ्रष्ट करने के ढंग से नहीं।

8. सामाजिक कल्याण (Social Welfare)—व्यक्ति समाज का एक अंग है। वह अपनी आवश्यकताओं और विकास के लिए समाज पर आश्रित है। अधिकार व्यक्ति को समाज में ही मिल सकते हैं। समाज से बाहर अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं होता, इसीलिए समाज के प्रति भी व्यक्ति के बहुत-से कर्त्तव्य हैं। समाज की उन्नति में सहयोग देना उसका कर्त्तव्य है। **लॉस्की** (Laski) के कथनानुसार, ''मुझे अपने अधिकारों का प्रयोग सामाजिक हित को बढ़ौत्तरी देने के लिए करना चाहिए।'' एक व्यक्ति के अधिकार में उसका यह कर्त्तव्य निहित है कि वह उस अधिकार का समाज-कल्याण में प्रयोग करे। भाषण देने की स्वतन्त्रता व्यक्ति को मिली हुई है और उसके साथ ही कर्त्तव्य भी बंधा है कि इस अधिकार द्वारा समाज का भी कुछ कल्याण किया जाए।

9. अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का एक लक्ष्य (Same Object of Rights and Duties)—अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का एक ही लक्ष्य होता है—व्यक्ति के जीवन को सुखी बनाना। समाज व्यक्ति को अधिकार इसलिए देता हैं ताकि वह उन्नति कर सके तथा अपने जीवन का विकास कर सके। कर्त्तव्य उसको लक्ष्य पर पहुंचाने में सहायता करते हैं। कर्त्तव्यों के पालन से ही अधिकार सुरक्षित रह सकते हैं।

10. कर्त्तव्यों के बिना अधिकारों का अस्तित्व असम्भव (Without Duties No Rights)—कर्त्तव्यों के बिना अधिकारों की कल्पना नहीं की जा सकती। जहां मनुष्य को केवल अधिकार ही मिले हों, वहां वास्तव में अधिकार न हो कर शक्तियां प्राप्त होती हैं। इसी तरह केवल कर्त्तव्यों के होने का अर्थ है तानाशाही शासन।

11. अधिकार सामाजिक कर्त्तव्य है (Rights are Social Duties)—अधिकारों का उद्देश्य मनुष्य के लिए सर्वोत्तम जीवन का विकास करना है। अत: इनका प्रयोग मानव कल्याण के लिए ही होना चाहिए। इस सामाजिक कर्त्तव्य की पूर्ति से ही समाज अधिकारों को मान्यता देता है। यदि अधिकारों का प्रयोग सामाजिक हितों के विरुद्ध होगा तो समाज उन अधिकारों को मान्यता देकर छीन लेगा। यदि किसी व्यक्ति को विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता है तो इसका अर्थ यह नहीं हैं कि वह इसका दुरुपयोग करने लगे। ऐसा व्यवहार करने से समाज मनुष्य की स्वतन्तत्रा छीन लेगा।

निष्कर्ष (Conclusion)—संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि नागरिक के ''कर्त्तव्य और अधिकार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।'' **श्रीनिवास शास्त्री** के अनुसार, ''कर्त्तव्य और अधिकार दोनों ही एक वस्तु हैं, अन्तर केवल उनको देखने में ही है। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कर्त्तव्यों के क्षेत्र में ही अधिकारों का सही महत्त्व सामने आता है।'' **प्रो० लॉस्की** के अनुसार, अधिकारों और कर्त्तव्यों में निम्नलिखित चार प्रकार के सम्बन्ध हैं—

(*i*) ''मेरा अधिकार आपका कर्त्तव्य है।''[1]

(*ii*) ''मेरे अधिकार में मेरा यह कर्त्तव्य है कि मैं आपके समान अधिकार को स्वीकार करूं।''[2]

(*iii*) ''मैं अपने अधिकार का प्रयोग समाज के लिए करूं।''[3]

(*iv*) ''क्योंकि राज्य मुझे अधिकार प्रदान करता है तथा इनकी रक्षा करता है, राज्य की सहायता करना मेरा कर्त्तव्य है।''[4]

3 मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा
(Universal Declaration fo Human Rights)

संयुक्त राष्ट्र के चार्टर की प्रस्तावना में कहा गया—
"हम संयुक्त राष्ट्र के लोग मानव के मौलिक अधिकारों, मानव के गौरव और महत्व, पुरुषों व स्त्रियों के तथा छोटे व बड़े राष्ट्रों के समान अधिकारों पर अपने विश्वास की पुनः पुष्टि करते हैं।" (*We the people of United Nations.... "Faith in fundamental human rights in the dignity and worth of human person, in the equal rights of men and women of naitons large and small." — Preamble of the charter of United Nations)*

भूमिका
(INTRODUCTION)

प्रो. लास्की का कथन है कि "अधिकार जीवन की वे दिशाएं हैं जिनके बिना कोई भी व्यक्ति अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता। लास्की का विचार था कि विश्व के समस्त नागरिकों को मानवीय अधिकार, जाति, धर्म, भाषा, रंग लिंग के आधार पर बिना किसी भेदभाव के मिलने चाहिए।"

मानव अधिकारों का विषय लगभग 200 वर्षों पूर्व राज्य का अपना व्यक्तिगत विषय समझा जाता था। परन्तु धीरे-धीरे इसका स्वरूप व्यापक बनता चला गया। वर्तमान संवैधानिक तथा लोकतन्त्रीय राज्यों में तो राज्य का परम धर्म मौलिक अधिकारों को प्रदान करना तथा उनकी सुरक्षा माना जाता है। इसलिए बहुत-से राज्यों में इन्हें संवैधानिकता का दर्जा प्रदान कर दिया गया है।

1789 में फ्रांसीसी क्रान्ति में सर्वप्रथम मानव की स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व की भावना का वर्णन किया गया।

फ्रांसीसी क्रान्ति से पूर्व 1776 में अमेरिका की स्वतन्त्रता की घोषणा में (American Declaration of Independence 1776) में भी मानव अधिकारों के विषय में कुछ वर्णन किया गया था।

1789 का अमेरिका का सर्वप्रथम लिखित संविधान था, जिसमें मूल संविधान में मानव अधिकारों की कोई व्याख्या नहीं की गई थी। परन्तु संविधान के लागू होने के दो वर्ष पश्चात् संविधान में दस संशोधन किए गए, जिनमें मानवीय अधिकारों की व्याख्या की गई। इसके पश्चात् विश्व के बहुत-से देशों के संविधानों में मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गई।

पहली सितम्बर 1939 को दूसरा विश्व युद्ध आरम्भ हो गया जो जापान के दो शहरों हिरोशिमा तथा नागासाकी पर अणु बम का अमेरिका द्वारा प्रयोग करने पर 1945 में पूर्ण रूप से समाप्त हो गया। विश्व युद्ध समाप्त हो गया, परन्तु अपने पीछे अनेक समस्याएं छोड़ गया। युद्ध के पश्चात् मानव अधिकारों की समस्या समस्त विश्व के समक्ष एक चुनौती के रूप में आई। जर्मनी में नाजियों पर युद्ध अपराधों के अतिरिक्त मानवता के विरूद्ध अपराध (Crime against humanity) के लिए मुकदमे चलाए गए। इन मुकदमों में जो तथ्य सामने आए, वे बहुत ही भयानक थे जिनमें मानवता को तो बिलकुल भुला दिया गया। नाजियों ने अपने देश में बसे यहूदियों पर जो अत्याचार किए, उन्हें मौत के घाट उतारा गया जिनका वर्णन करना भी कठिन है। नाजियों का अपराध मानवता के विरूद्ध जघन्य अपराध माना गया। नाजियों की इस शर्मनाक घटना से इस विचार ने जोर पकड़ा कि मानवीय अधिकार स्वयं में मान्य हैं तथा वे सभी देशों के कानून से ऊपर हैं। किसी भी राष्ट्र को इनके उल्लंघन करने का अधिकार नहीं है।

मानव अधिकार तथा संयुक्त राष्ट्र
(HUMAN RIGHTS AND UNITED NATIONS)

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् विश्व में शान्ति स्थापना तथा विश्व को युद्ध के विनाश से बचाने के लिए प्रयास किए जाने लगे। परिणामस्वरूप अक्तूबर 1945 में एक विश्व संस्था अस्तित्व में आई, जिसे आज संयुक्त राष्ट्र (United Nations) कहा जाता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् जब अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित करने के प्रयास किए जा रहे थे तो उस समय मानव अधिकारों के प्रति विशेष ध्यान दिया जा रहा था। 1941 के एटलांटिक चार्टर, 1942 के वाशिंगटन सम्मेलन, 1945 के मास्को सम्मेलन तथा 1944 के डमबार्टन ओक्स सम्मेलन में मानव अधिकारों की रक्षा के लिए अनेक विचार हुए तथा इसको अपनाने के लिए बल दिया गया।

जब संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन हो गया तो 1945 के सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में अनेक प्रतिनिधियों ने चार्टर में मानव अधिकार को अपनाने पर बल दिया।

26 जून 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर को 51 देशों के प्रतिनिधियों ने स्वीकार किया। इस चार्टर की व्यवस्था के अनुसार 24 अक्तूबर 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) नामक संस्था अस्तित्व में आई। संयुक्त राष्ट्र संघ के इस चार्टर ने मानव अधिकारों के विषय में निम्न व्यवस्थाएं की थीं–

1. मौलिक अधिकारों में विश्वास (Faith in fundamental Human Rights)–संयुक्त राष्ट्र के चार्टर की प्रस्तावना में स्पष्ट किया गया है कि मानव के मौलिक अधिकारों, मानव के व्यक्तित्व के गौरव तथा महत्व में तथा स्त्रियों व पुरुषों के समान अधिकारों में विश्वास प्रकट किया गया है।

2. मानव अधिकारों के लिए सम्मान विकसित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना (Achievement of International Co-operation for promotion of respect for Human Rights)–संयुक्त राष्ट्र के कई उद्देश्यों का वर्णन चार्टर के प्रथम अनुच्छेद में किया गया है। चार्टर की धारा एक में मानव अधिकारों तथा सभी के लिए बिना जाति, लिंग, रंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के लिए स्वतन्त्रताओं को उन्नत तथा प्रोत्साहित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त किया जाएगा।

3. मानव अधिकारों के प्रति सार्वभौमिक सम्मान (Universal Respect for Human Rights)–संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 55 में यह स्पष्ट किया गया है कि संयुक्त राष्ट्र लिंग, भाषा अथवा धर्म के बिना सभी को मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं के लिए सार्वभौमिक सम्मान विकसित करेगा।

4. आर्थिक तथा सामाजिक परिषद की सिफारिशें (Recommendations of Economic and Social council)–आर्थिक तथा सामाजिक परिषद संयुक्त राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण अंग है। चार्टर के अनुच्छेद 62 में यह व्यवस्था की गई है कि "सभी के मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान विकसित करने के लिए तथा उनके पालन सम्बन्धी सिफारिशें पेश कर सकता है।" (*Economic and Social Council may make recommendations for the purpose of promoting respect for and observance of human rights and fundamental freedom for all.*").

5. मानव अधिकारों के प्रति सम्मान विकसित करना (Encouragement of respect for Human rights)–संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 76 में संयुक्त राष्ट्र की ट्रस्टीशिप के उद्देश्य अंकित किए गए हैं। इस अनुच्छेद के अनुसार "नस्ल, लिंग, भाषा, धर्म के भेदभाव के बिना मानव अधिकारों तथा सभी को मौलिक स्वतन्त्रताओं के लिए सम्मान विकसित करना न्यासित पद्धति (Trusteeship system) का एक उद्देश्य है। (*The basic objectives of trusteeship system... shall be... to encourage respect for human rights and for fundamental freedom for all without distinction as to race, sex, langauge or religion Art. 76*)

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की विशेषताएं

Characteristics of Universal Declaration of Human Rights

मानव आयोग के सुझावों को स्वीकार करते हुए 10 दिसम्बर 1948 को संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की। इस घोषणा के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र के सदस्य राज्यों से यह अपेक्षा की गई है कि इन अधिकारों का अपने-अपने राज्य में पालन करेंगे।

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की मुख्य विशेषताएं निम्न हैं–

1. प्रस्तावना से आरम्भ (**Beginning with Preamble**)–मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इसका प्रस्तावना से आरम्भ होना है। चार्टर में 30 अनुच्छेद हैं परन्तु इन अनुच्छेदों के अतिरिक्त इस घोषणा में प्रस्तावना भी अंकित की गई है। अनुच्छेदों से पूर्व प्रस्तावना अंकित की गई है। प्रस्तावना में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कारणों का वर्णन किया गया है जिनको सम्मुख रखकर ही महासभा ने इस घोषणा को स्वीकार किया।

---

2. मानवीय समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृभाव के सिद्धान्तों पर आधारित (Based on the principles of Human Equality, Liberty and Brotherhood)–फ्रांस की क्रान्ति में इन सिद्धांतों यथा समानता, स्वतंत्रता तथा भाईचारे को स्वीकार किया गया था। इसी सिद्धांत को मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में अपनाया गया। इस घोषणा के प्रथम अनुच्छेद में ही यह स्पष्ट किया गया कि सभी मानव जन्म से ही स्वतन्त्र हैं। गौरव व अधिकारों संबंधी वे समान हैं, उन के पास तर्कशीलता का गुण तथा अन्तरात्मा है, उन्हें परस्पर भ्रातृभावना के आधार पर व्यवहार करना चाहिए।

("All human beings are born free and equal in dignity and rights. They are endowed with reason and Conscience and should act towards one another in a spirit of brotherhood." **Act. I)**

प्रथम अनुच्छेद में इस घोषणा से स्पष्ट है कि यह घोषणा मानवीय समानता, स्वतंत्रता तथा मातृभाव के सिद्धान्तों पर ही आधारित है।

3. उपलब्धियों का सांझा स्तर (Common Standard of Achievements)–प्रस्तावना में यह भी अभिव्यक्त किया गया है कि यह घोषणा सभी राष्ट्रों के लिए उपलब्धियों का एक साझा स्तर है। घोषणा में वर्णित मानवीय अधिकारों को लागू करना प्रत्येक राष्ट्र का मानवीय कर्तव्य है। इन अधिकारों के प्रति लोगों के मन में सम्मान पैदा करना अनिवार्य है। अधिकारों को प्रभावशाली ढंग से लागू करवाने के लिए राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आवश्यक कार्यवाहियां की जानी चाहिए। ये मानवीय अधिकार कुछ राष्ट्रों के लिए नहीं वरन सभी राष्ट्रों के लिए है। इन अधिकारों के लिए उचित कदम उठाना सभी राष्ट्रों का महत्वपूर्ण कर्तव्य है।

4. अन्तर्राष्ट्रीय सहमति (International Acceptance)–मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा संयुक्त राष्ट्र की महासभा द्वारा स्वीकार की गई है। संयुक्त राष्ट्र एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है, जिसकी वर्तमान में संख्या 191 के लगभग है। महासभा ही एकमात्र 6 अंगों में से एक ऐसा अंग है, जिसमें सभी सदस्य राज्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है। परिणामस्वरूप महासभा द्वारा स्वीकृति का अभिप्राय है अन्तर्राष्ट्रीय सहमति। किसी भी राज्य के लिए यह सम्भव नहीं है कि मानव अधिकारों की घोषणा का विरोध करे।

5. व्यक्तियों को अधिकार प्रदान नहीं करती (Does not grand Rights to Individuals)–मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का सम्बन्ध सीधे नागरिकों से नहीं है। नागरिकों को अधिकार सम्बन्धित राज्य द्वारा अपने साधनों तथा परिस्थितियों के अनुसार प्रदान किए जाते हैं। यह घोषणा सभी राष्ट्रों को केवल इस तथ्य से परिचित करवाती है कि प्रत्येक राष्ट्र के लोग इस घोषणा में अंकित अधिकारों के अधिकार हैं। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि अपने संविधान तथा कानून द्वारा अपने समस्त लोगों को समान रूप से बिना किसी भेदभाव के अधिकार प्रदान करे।

6. मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (Universal Declaration of Human Rights)–मानव अधिकारों की यह घोषणा सार्वभौमिक स्वरूप की घोषणा है। इस घोषणा में अंकित अधिकार किसी एक राष्ट्र के लिए नहीं हैं, वरन् सभी राष्ट्रों के सभी लोग इन अधिकारों के अधिकारी हैं। घोषणा के अनुच्छेद 2 में कहा गया है कि, "इस घोषणा में अंकित अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं के लिए प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी है। इन अधिकारों के सम्बन्ध में रंग, लिंग, भाषा, धर्म, जन्म, जाति तथा कोई अन्य विचार राष्ट्रीय अथवा सामाजिक मूल, सम्पत्ति, वंश तथा किसी अन्य स्तर के आधार पर किसी भी तरह के भेदभाव के बिना सभी व्यक्ति इन अधिकारों के अधिकारी हैं।

इस घोषणा में यह भी स्पष्ट किया गया है कि इन अधिकारों के सम्बन्ध में किसी भी देश की राजनीतिक अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के आधार पर किसी भी तरह के भेदभाव के बिना सभी व्यक्ति इन अधिकारों के अधिकारी हैं।

7. व्यापक घोषणा (Comprehensive Declaration)–मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा एक अति विस्तृत तथा व्यापक घोषणा है। प्रस्तावना के अतिरिक्त इस घोषणा में 30 अनुच्छेद हैं। इस घोषणा द्वारा अनेकों आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकारों की व्यवस्था की गई है। अधिकारों को सीमित करने के विषय में भी व्यवस्था की गई है। यही नहीं इसके अतिरिक्त और भी अनेक महत्वपूर्ण व्यवस्थाएं इस घोषणा में की गई हैं।

8. सीमित स्वरूप को मान्यता (Recognition to the limited Character)–मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में यह भी व्यवस्था की गई है कि ये अधिकार असीमित नहीं हैं। अधिकारों को सीमित भी किया जा सकता है। इस घोषणा के अनुच्छेद 29 में यह प्रावधान है कि अन्य व्यक्तियों के अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं के प्रति मान्यता तथा सम्मान प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रत्येक राष्ट्र की सरकार द्वारा कानूनी प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यह

घोषणा इस सत्य को स्वीकार करती है कि एक व्यक्ति के अधिकार तथा स्वतन्त्रताएं तभी सम्भव हो सकती है जब दूसरे व्यक्ति के अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं पर प्रतिबन्ध लगाए जाएं। कोई भी व्यक्ति अपने अधिकारों को स्वीकार करने के लिए अन्य व्यक्तियों के अधिकारों का उल्लंघन नहीं कर सकता।

9. कर्तव्यों का उल्लेख नहीं (No mention of duties)–10 फरवरी 1948 को जिन मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की गई, उनमें कर्तव्यों का कोई वर्णन नहीं किया गया है। अनुच्छेद 29 में केवल इतनी व्यवस्था की गई कि "प्रत्येक व्यक्ति के अपने उस समुदाय के प्रति कुछ कर्तव्य है, केवल जिसमें उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र तथा पूर्ण विकास हो सकता है।" (*"Every one has duties to the community in which alone the free and full development of his personality is possible"*. Act. 29)

इसके अतिरिक्त कर्तव्यों के सम्बन्ध में कोई अन्य घोषणा नहीं की गई है। इस घोषणा में अधिकारों के समान कर्तव्यों की कोई विशेष व्यवस्था नहीं है।

10. सिद्धान्तों के विरुद्ध इन अधिकारों के प्रयोग की मनाही (Prohibition to exercise these Rights against Principles)–मानव अधिकार की इस सार्वभौमिक घोषणा में स्पष्ट रूप से यह व्यवस्था की गई है कि किसी भी स्थिति में इन अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं का प्रयोग संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं किया जा सकता। (*"These rights and freedoms may in no case be exercised contrary to the purposes and principles of the United Nations"*.)

11. अधिकार नष्ट नहीं किए जा सकते (Rights cannot be destroyed)–मानव अधिकार की सार्वभौमिक घोषणा के अनुच्छेद 30 में यह स्पष्ट व्यवस्था की गई है कि "इस घोषणा की किसी विशेष व्यवस्था का यह अर्थ कदापि न लिया जाए कि यह घोषणा किसी राज्य समूह अथवा व्यक्ति को ऐसी गतिविधियों में शामिल होने अथवा कोई ऐसा कार्य करने का अधिकार देती है जिसका उद्देश्य इस घोषणा में अंकित अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं में से किसी अधिकार तथा स्वतन्त्रता को नष्ट करना हो।" (*"Nothing in this declaration may be interpreted as implying for any state, group or person any right to engage in any activity or to perfom any act aimed at the distinction of any of the rights and freedoms set forth herein"*. — Act. 30)

इस अनुच्छेद में यह स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है कि किसी भी परिस्थिति में इन मानव अधिकारों को समाप्त अथवा नष्ट नहीं किया जा सकता।

इस घोषणा की यह महत्वपूर्ण व्यवस्था है कि किसी भी राज्य, समूह तथा व्यक्ति को ऐसा कोई अधिकार नहीं है कि इस घोषणा में वर्णित मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के विरुद्ध किसी तरह का अधिकार प्राप्त है।

सार्वभौमिक अधिकारों की घोषणा की त्रुटियां (Defects of the Universal Declaration of Human Rights)–मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की त्रुटियों अथवा आलोचना की व्याख्या निम्न आधारों पर की जा सकती है-

1. अन्तर्राष्ट्रीयवाद का अभाव (Lack of Internationalism)–सार्वभौमिक अधिकारों के पीछे अन्तर्राष्ट्रीय बाध्यकारी शक्ति का अभाव पाया जाता है, इसलिए इन्हें अन्तर्राष्ट्रीयवादी अवधारणा नहीं कहा जा सकता। प्रो. हैंस कोल्सन के अनुसार, "अधिकारों का यह अन्तर्राष्ट्रीय अभिलेख लगभग व्यर्थ-सा ही हो जाता है यदि इनमें एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की व्यवस्था न हो, जिसमें अधिकारों की अवहेलना के समय विवादों का समाधान हो सके तथा उसके निर्णय सभी राष्ट्रों को मान्य हों।

2. समस्त लोगों के लिए उपलब्धियों का समान स्तर (A common standard of Achievements for all peoples): मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है, क्योंकि सभी देशों तथा सभी लोगों के लिए अधिकारों का समान स्तर उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकता। प्रत्येक देश की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्थितियां एक समान नहीं होतीं। ऐसी स्थिति में समस्त राष्ट्रों तथा समस्त लोगों के लिए एक समान स्तर की घोषणा उपयुक्त नहीं हो सकती। जबकि घोषणा में कहा गया कि "यह मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा समस्त राष्ट्रों तथा सभी लोगों के लिए प्राप्ति का एक संयुक्त स्तर है।" (*This universal declaration of Human Rights is a common standard for all people and all nations". Preamble)*

3. वैधानिक शक्ति का अभाव (Lack of Legislative Power)–भूतपूर्व अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट की पत्नी श्रीमती रूजवेल्ट ने कहा था कि इस घोषणा के प्रति कोई संवैधानिक मान्यता नहीं है। इस घोषणा को स्वीकार करते हुए यह अधिक महत्वपूर्ण है कि हम इस प्रलेख की मौलिकता को समझें। यह कोई नीति नहीं है, न ही कोई अन्तर्राष्ट्रीय समझौता है। यह घोषणा किसी विधि पर आधारित नहीं है।

4. प्रतिबन्धों की व्यवस्था (Provision of Limitations)—मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है क्योंकि इसमें यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार तथा स्वतन्त्रताएं कानून द्वारा निश्चित प्रतिबन्धों के अधीन होगी। इसका सीधा अभिप्राय यह है कि किसी भी देश की सरकार कानून द्वारा इन अधिकारों को प्रतिबन्धित कर सकती है। इस घोषणा के अनुसार ऐसे प्रतिबन्ध दूसरों के अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं की मान्यता के लिए नैतिकता, सार्वजनिक व्यवस्था तथा एक लोकतन्त्रीय समाज के सामान्य कल्याण के आधार पर लगाए जा सकते हैं।

घोषणा में अंकित ये आधार बहुत अस्पष्ट हैं तथा इनके नाम पर मानव अधिकारों को किसी भी सीमा तक सीमित किया जा सकता है। अधिकारों को सीमित करने का अभिप्राय शासकों को विस्तृत तथा निरंकुश शक्तियां प्रदान करना है। शासक शक्तियों के अधिकार के अन्तर्गत मौलिक अधिकारों को इस हद तक सीमित कर सकता है कि अधिकारों का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाए।

5. कम महत्वपूर्ण (Less Importance)—मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा कम महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि इसके प्रलेख में कई महत्वपूर्ण बातों को नजरअन्दाज कर दिया गया है। जार्ज स्वर्जन वर्जर के अनुसार घोषणा में जिन बातों का उल्लेख किया गया है वे इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं जितनी कि वे बातें जिन्हें छोड़ दिया गया है। घोषणा में अल्पमतों की सुरक्षा के लिए कोई उपदंध नहीं है। इस तरह की घोषणा से विश्व की जनता में उत्साह नहीं उत्पन्न हो पाता।

6. विरोधाभाषी अवधारणा पर आधारित (Based on contradictory concept)—सार्वभौमिक अधिकारों की घोषणा विरोधाभाषी अवधारणा पर आधारित पाई जाती है। हेंसकेल्सन के अनुसार, "घोषणा में सभी मनुष्यों की गरिमा तथा उनके अधिकारों के सम्बन्धों में जन्मजात स्वतन्त्रता तथा समानता प्राप्त है।" इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग सैद्धान्तिक है, व्यावहारिक नहीं।

7. महत्वहीन दार्शनिक सिद्धान्त (Useless Philosophical Theory)—सार्वभौमिक अधिकारों की घोषणा की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि अधिकारों की इस घोषणा में दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है जो कि अपने आप में व्यर्थ है। ब्राजील के प्रतिनिधि ने यह मांग की थी कि घोषणा के अनुच्छेद 1 को हटा दिया जाना चाहिए, क्योंकि ये व्यर्थ की बातें हैं।

8. विकासशील देशों की विशेष परिस्थितियों की अवहेलना (Negligence of Special conditions of Developing Countries)—वर्तमान विश्व में अल्प विकसित, विकासशील तथा पिछड़े राष्ट्रों की संख्या अत्यधिक हैं। इन राष्ट्रों में कई प्रकार का पिछड़ापन यथा-आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक आदि बड़े स्तर पर पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ विकासशील देशों में समाजवाद है, कुछ में राजतन्त्र तो कुछ में अधिनायकवाद है। इन राष्ट्रों की विशेष परिस्थितियों में एक जैसे अधिकार तथा स्वतन्त्रताएं सम्भव नहीं हैं।

उदारवादी प्रजातन्त्रीय देशों में दिए जाने वाले अधिकार समाजवादी प्रजातन्त्रीय देशों को लोगों को दिए जाने संभव नहीं
है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि मानव अधिकारों की यह घोषणा विशेषतः पाश्चात्य उदारवादी प्रजातन्त्रीय विचारधारा पर
आधारित है तथा समाजवादी तथा अविकसित तथा विकासशील देशों की विशेष परिस्थितियों की ओर कम ध्यान दिया गया है
अथवा दिया ही नहीं गया है।

9. प्रभावशाली संगठन का अभाव (Absence of Effective Organisation)—मानव अधिकारों की घोषणा की
इसलिए भी आलोचना की जाती है, क्योंकि संयुक्त राष्ट्र द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा कोई शक्तिशाली संगठन स्थापित नहीं
किया गया है जो मानव अधिकारों की अवहेलना की स्थिति में ऐसे राज्यों के विरुद्ध कोई ठोस कदम उठाने की क्षमता रखता है।
मानव अधिकार आयोग अपने वार्षिक अधिवेशन अवश्य करता है तथा अपनी रिपोर्ट आर्थिक तथा सामाजिक परिषद (Economic
and Social Council) को पेश भी करता है। रिपोर्ट भेजना एक औपचारिकता मात्र है, क्योंकि इस रिपोर्ट की ओर कोई
विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। महासभा ने 1966 में मानव अधिकारों के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञा पत्र (International
Convents on Human Rights) स्वीकार किए थे। इन प्रलेखों के अन्तर्गत एक समिति का गठन भी किया गया था। यह
समिति उन्हीं देशों में मानव अधिकारों की अवहेलना के सम्बन्ध में कार्यवाही करती है, जिन देशों ने इन प्रतिज्ञा पत्रों को स्वीकार
किया है, अन्य किसी देश के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जाती। यदि कोई भी देश इन अधिकारों की अवहेलना का साहन न
करें तो यह तभी सम्भव हो सकता है जब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक शक्तिशाली संगठन की स्थापना की जाए।

10. निराशाजनक अवधारणा (Desperational concept)—सार्वभौमिक अधिकारों की घोषणा में एक महत्वपूर्ण त्रुटि तथा इस आधार पर भी घोषणा की आलोचना की जाती है कि यह व्यवस्था निराशाजनक है। अनेक देशों में धर्म, वंश, नस्ल, जाति, रंग, लिंग आदि के आधार पर अमानवीय भेदभाव आज भी प्रचलित है, फिर भी यह घोषणा इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि ऐसे अमानवीय भेदभाव को समाप्त किया जाए।

11. निराशाजनक स्थिति (Discouraging position)–मानव अधिकारों की घोषणा की वास्तविक स्थिति का अवलोकन करने पर जो तथ्य उभर कर सामने आते हैं, वे बहुत ही निराशाजनक प्रतीत होते हैं। ऐसा आभास होता है कि मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का कोई विशेष व्यावहारिक महत्व नहीं है। सिद्धान्त में यह घोषणा अमानवीय कष्टों का विरोध करती है, परन्तु फरवरी 1988 में मानव अधिकार आयोग के समक्ष एक रिपोर्ट प्रस्तुत की गई थी, जिसमें स्पष्ट रूप से वर्णित था कि विश्व के अनेक देशों में बहुत ही अमानवीय कष्ट राजनीतिक विरोधियों को दिए जाते हैं। प्रतिद्वन्द्वियों को कष्ट तथा प्रताड़ित करने की कोई सीमा नहीं। एमनेस्टी इन्टरनेशनल (Amnesty International) भी मानव अधिकारों से सम्बन्धित है। 2005 की अपनी रिपोर्ट में इस संस्था ने कहा था कि विश्व के लगभग 1/3 देशों में अन्तःकरण के कैदी मौजूद हैं। ये ऐसे राजनीतिक कैदी होते हैं जिन्हें सत्तारूढ़ सरकार ने बिना अभियोग चलाए जेलों में बंद किया हुआ है। आज भी अनेक देशों में जन्म, जाति, धर्म, नस्ल, रंग, लिंग आदि के आधार पर अमानवीय भेदभाव तथा व्यवहार किया जाता है। इन विभेदों तथा अमानवीय व्यवहार के रहते मानव अधिकारों का कोई औचित्य नहीं है। संयुक्त राष्ट्र की यह घोषणा केवल घोषणा मात्र है, संयुक्त राष्ट्र इन भेदभावों को रोकने में नैतिक दृष्टि से भी सफल नहीं है।

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का महत्व
Importance of the Universal declaration of Human Rights

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के महत्व को निम्न आधारों पर स्पष्ट किया जा सकता है–

1. अधिकारों की सार्वभौमिकता पर बल (Stress on the universalization of Rights)–अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का महत्व इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि ये विश्व के लगभग सभी राष्ट्रों द्वारा स्वीकार्य हैं। यही कारण है कि विश्व की चर्चों की परिषद ने 1968 में यह घोषणा की कि विश्व के राष्ट्रों को इस बात की मान्यता देनी चाहिए कि मानव अधिकारों व स्वतंत्रताओं की सुरक्षा अब एक सर्वव्यापक अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की चिन्ता का विषय बन गया है।

2. सभी नागरिकों के लिए (For all citizens)–मानव अधिकारों की घोषणा इस महत्व से भी स्पष्ट होती है कि अधिकारों की यह घोषणा समस्त मानव समाज के लिए है। इस घोषणा में जन्म, जाति, रंग, लिंग, भाषा, सम्प्रदाय, सामाजिक व राजनीतिक भेदभाव को स्वीकार नहीं किया गया है। कार्ल्स पी. रोम्यूलो के अनुसार, 'यह घोषणा राष्ट्रीय सीमाओं से परे है। जाति, धर्म का ध्यान नहीं रखती। यह मानव अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं की पहली सामूहिक घोषणा है।' यह घोषणा समस्त मानवता के लिए है।

3. समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृभाव (Equality, Liberty and Brotherhood)–10 दिसम्बर 1948 की इस घोषणा से पूर्व फ्रांस की क्रान्ति में समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृभाव के सिंद्धान्त को स्वीकार किया गया था। इस घोषणा का महत्व भी इसी सिद्धान्त में निहित है कि इसमें भी समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृभाव के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। इस घोषणा में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है कि सभी व्यक्ति स्वतन्त्र पैदा हुए हैं। इस घोषणा में समझौतावादी विचारक रूसो के विचार की झलक भी स्पष्ट दिखाई देती है। रूसो का कथन था कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र पैदा होता है, परन्तु वह अपने आप को बन्धनों में जकड़ा पाता है। इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए घोषणा में कहा गया कि सभी व्यक्ति स्वतन्त्र पैदा हुए हैं तथा सभी अधिकारों तथा गौरव के सम्बन्ध में समान हैं। सभी लोगों के पास तर्कशीलता तथा अन्तरात्मा है, जिसके आधार पर उन्हें एक-दूसरे के प्रति सद्भावना के अधीन व्यवहार करना चाहिए।

4. प्रत्येक तरह के अधिकारों की व्यवस्था (Provision of All types of Rights)–मानव अधिकारों की घोषणा का महत्व इस तथ्य में भी निहित है कि इस घोषणा में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आदि अधिकारों की व्यवस्था की गई है। मानव अधिकार के अनुभवी सदस्य इस तथ्य से भली-भान्ति परिचित थे कि मानवीय विकास के लिए अनेक विभिन्न प्रकार की सुविधाओं अथवा अधिकारों की आवश्यकता होती है, इसलिए उन्होंने इस घोषणा में सभी तरह के महत्वपूर्ण अधिकारों को स्थान देने का प्रयास किया है। ये अधिकार केवल सैद्धान्तिक नहीं वरन् व्यावहारिक भी हैं। इन अधिकारों का व्यावहारिक स्वरूप निश्चित रूप से मानवीय विकास की विश्वसनीयता को बनाएगा।

5. लोकतन्त्रीय व्यवस्था का प्रतीक (Symbol of Democratic system)–वर्तमान युग लोकतन्त्र का युग है विश्व के लगभग सभी देशों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र की स्थापना की गई है। इस घोषणा में लोकतन्त्रीय व्यवस्था की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। इस घोषणा में अंकित अधिकार लोकतन्त्रीय प्रणाली की आवश्यक विशेषताएं मानी जाती हैं। जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पति, व्यक्ति की निजी सुरक्षा, कानून के समक्ष समानता, शासन में भाग लेने का अधिकार आदि कुछ ऐसे

अधिकार हैं जो लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था में अवश्य उपलब्ध होते हैं। घोषणा में अंकित अन्य अधिकार भी लोकतन्त्रीय व्यवस्था के नागरिकों को उपलब्ध होते हैं। घोषणा इस सिद्धान्त को स्पष्ट करती है कि राष्ट्रों का परिवार (Family of Nations) अन्य शासन प्रणालियों की अपेक्षा लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली को अधिक उपयोगी मानते हैं।

6. अत्यधिक आकांक्षा (Most Ambitious)—अधिकारों की घोषणा का महत्व इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि ये बहुत अधिक आकांक्षा रखते हैं। गुडरिच का कथन है कि "इस घोषणा का एक लाभप्रद पहलू यह है कि ऐसे लक्ष्यों तथा आदर्शों को प्रस्तुत करती है जिनके माध्यम से विभिन्न राष्ट्रों में अधिकारों के क्षेत्र की उपलब्धियों को मापने में सहायता मिल सकती है।"

7. मानवीय मूल्य निर्माण में सहायक (Helpful in making Human values)—इस घोषणा का एक महत्वपूर्ण महत्व इस बात में निहित है कि मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा से मानवीय मूल्यों के निर्माण में सहायता मिलती है, क्योंकि बिना मानव अधिकारों के मानवीय मूल्यों का निर्माण नहीं हो सकता। मानव मूल्यों का तभी निर्माण करेगा जब राज्य द्वारा उसे अधिकाधिक अवसरों पर प्रतिष्ठा का अवसर प्राप्त होगा।

8. एक समान विश्व की अवधारणा पर आधारित (Based on Equal world concept)—अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा का अर्थ विश्व में एक समान वैश्विक व्यवस्था का निर्माण करना है। विश्व में अधिकारों की प्रधानता से समतामूलक समाज की स्थापना सम्भव है। यदि कहीं पर भी उपनिवेशवाद होगा तो समता मूलक विश्व की अवधारणा का विकास सम्भव नहीं हो सकता। अतः विश्व में अधिकारों की अवधारणा का विकास अवश्यंभावी होता है।

9. राज्यों के लिए मार्ग दर्शक (A guide to the states)—यह घोषणा विश्व के राज्यों के लिए एक मार्ग दर्शक की भूमिका का निर्वाह करती है। यदि किसी राज्य की महानता का अवलोकन करना है तो यह जान लेना आवश्यक है कि राज्य अपने नागरिकों को कितने अधिकार प्रदान करता है। प्रत्येक राज्य की सरकार अपने नागरिकों के लिए मानव अधिकारों की व्यवस्था करने के लिए इस घोषणा से मार्गदर्शन प्राप्त कर सकती है। इस घोषणा का वास्तविक उद्देश्य यह है कि विश्व के सभी राज्य इस घोषणा में अंकित अधिकारों की अपने-अपने संविधान में व्यवस्था करें।

10. अधिकारों पर प्रतिबन्ध (Limitations on Rights)—इस घोषणा में इस तथ्य पर बल दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार अन्य व्यक्तियों के अधिकारों द्वारा सीमित होते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने अधिकारों के नाम पर दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों की अवहेलना नहीं कर सकता। इस घोषणा में यह महत्वपूर्ण व्यवस्था भी है कि नैतिकता, सार्वजनिक व्यवस्था तथा लोकतंत्रीय समाज के जन कल्याण के लिए इन अधिकारों को सीमित किया जा सकता है।

11. अधिकारों की सुरक्षा (Protection of Rights)—मानव अधिकारों की घोषणा का महत्व इस तथ्य से भी उजागर होता है कि घोषणा में केवल अधिकारों की व्यवस्था ही नहीं की गई है, वरन् उनकी सुरक्षा के लिए भी इस घोषणा में विशेष व्यवस्था की गई है। इस घोषणा में कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मौलिक अधिकारों की राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा सुरक्षा की विश्वसनीयता बना सकता है। अधिकारों की सुरक्षा सम्बन्धी उचित व्यवस्था प्रत्येक राज्य के संविधान अथवा कानून द्वारा की जाती है। अधिकारों की सुरक्षा सम्बन्धी व्यवस्था करके इस घोषणा ने सभी राष्ट्रों को प्रेरित किया है कि राज्य अपने नागरिकों को प्रदान किए गए अधिकारों की सुरक्षा की उचित व्यवस्था करें।

12. बढ़ता सम्मान (Increasing Respect)—मानव अधिकारों की घोषणा का स्पष्ट महत्व इस तथ्य से प्रकट हो जाता है कि इस घोषणा में अंकित अधिकारों के प्रति सम्मान में कमी आने के स्थान पर अत्यधिक सम्मान बढ़ता जा रहा है। जब किसी देश में मानव अधिकारों का उल्लंघन होता है, उस देश को अन्तर्राष्ट्रीय विरोध का सामना करना पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय जनमत के विरोध के कारण कोई भी देश इन अधिकारों के विरुद्ध कार्य करने का साहस ही नहीं कर सकता। जनमत के कारण ही मानव अधिकारों की अवहेलना के मामले धीरे-धीरे कम हो रहे हैं। इन अधिकारों के महत्व को ध्यान में रख कर ही संयुक्त राष्ट्र ने 1968 का वर्ष मानव अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय वर्ष (International year for Human Rights) घोषित किया था। प्रत्येक वर्ष 10 दिसम्बर का दिन 'मानव अधिकार' दिवस के रूप में मनाया जाता है। प्रति वर्ष इस दिन विश्व के समस्त देशों में मानव अधिकारों के प्रति सम्मान, श्रद्धा तथा विश्वास अभिव्यक्त किया जाता है। प्रतिवर्ष की यह कार्यवाही निश्चित रूप से मानव अधिकारों के प्रति सम्मान तथा श्रद्धा में वृद्धि करती है।

13. मानवीय अधिकारों के लिए उपयोगी (Useful for Human Rights)—मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा से उन राष्ट्रों में मानवीय अधिकारों को व्यापक बल मिला है जिन राज्यों में मानवीय अधिकारों को अपने संविधान में सम्मिलित नहीं किया गया था अथवा अधिकारों का उल्लंघन होता था। इस घोषणा के प्रतिफल के रूप में विश्व के सभी नवीन स्वाधीन राष्ट्रों ने सर्वप्रथम अपने नागरिकों को अपने संविधान में मौलिक अधिकार प्रदान किए हैं।

घोषणा में अंकित अधिकारों का वर्गीकरण
(CLASSIFICATION OF RIGHTS ENSHRINED IN THE DECLARATION)

इस घोषणा के कुल 30 अनुच्छेद (Articles) हैं। घोषणा के 30 अनुच्छेदों में उन अधिकारों की व्यवस्था की गई है जि अधिकारों के विषय में सामान्य सहमति हो सकती है। इस सार्वभौमिक घोषणा में अधिकारों का कोई वर्गीकरण नहीं किया गय है। सम्पूर्ण घोषणा के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि इस घोषणा में मनुष्यों के वैयक्तिक (Personal), सामाजिक (Social), राजनीतिक (Political), आर्थिक (Economic), नागरिक (Civil), और सांस्कृतिक (Cultural) अधिकारों का वर्णन किया गया है। घोषणा में अधिकारों का कोई क्रमबद्ध वर्गीकरण (Systematic Classification) नहीं किया गया है। भिन्न-भिन्न स्वरूप के अधिकार घोषणा के भिन्न-भिन्न अनुच्छेदों में अंकित किए गए हैं। साधारण तौर पर विद्वानों द्वारा इन अधिकारों का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकारों में किया जाता है—

1. नागरिक अधिकार
(CIVIL RIGHTS)

मानवाधिकारों की घोषणा में अंकित निम्नलिखित अधिकार नागरिक अधिकारों की श्रेणी में आते हैं—

1. **जीवन, स्वतन्त्रता और सुरक्षा का अधिकार (Right to Life, Liberty and Security)**—इस घोषणा में यह व्यवस्था है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, स्वतन्त्रता और सुरक्षा का अधिकार प्राप्त है।

(यह अधिकार अनुच्छेद 3 में भी अंकित है)

2. **दासता का निषेध (Prohibition of Slavery)**—जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकार को विश्वसनीय बनाने के लिए इस घोषणा में व्यवस्था की गई है कि किसी व्यक्ति को दासता अथवा अधीनस्था में नहीं रखा जाएगा और प्रत्येक रूप में दासता का निषेध होगा।

(यह व्यवस्था अनुच्छेद 4 में की गई है)

3. **अमानवीय व्यवहार के विरुद्ध अधिकार (Right Aganist Inhuman Treatment)**—इस घोषणा ने अमानवीय व्यवहार के विरुद्ध व्यवस्था की है। इस घोषणा में यह व्यवस्था है कि, "किसी व्यक्ति को यातनाएं नहीं दी जाएंगी, किसी व्यक्ति के साथ निर्दयी, अमानवीय अथवा अपमानजनक व्यवहार नहीं किया जाएगा और किसी को निर्दयी सजा नहीं दी जाएगी।"

(यह व्यवस्था अनुच्छेद 5 में की गई है)

4. **कानून के समक्ष समानता और कानून की समान सुरक्षा का अधिकार (Right to equality before law and equal protection of Law)**—इस घोषणा में यह अंकित है कि कानून के समक्ष सभी समान हैं और बिना किसी भेदभाव के सभी को कानून की समान सुरक्षा का अधिकार प्राप्त है।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 7 में की गई है)

5. **मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के विरुद्ध प्रभावशाली उपचार का अधिकार (Right to Effective Remedy Against Violation of Fundamental Rights)**—व्यक्तियों को अपने देश के संविधान या कानून द्वारा जो मौलिक अधिकार प्राप्त होंगे, उन अधिकारों की अवहेलना के विरुद्ध प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावशाली वैधानिक उपचार (Remedy) का अधिकार प्राप्त होगा। इसका अभिप्राय यह है कि देशों के राष्ट्रीय संविधानों में लोगों के मौलिक अधिकारों की अवहेलना को रोकने के लिए वैधानिक उपचारों की व्यवस्था होगी। मौलिक अधिकारों की सुरक्षा योग्य न्यायालय द्वारा की जाएगी।

(यह अधिकार अनुच्छेद 8 में दिया गया है।)

6. **मनमर्जी से गिरफ्तार करने के विरुद्ध अधिकार (Right Against Arbitrary Arrest)**—स्वतन्त्रता के अधिकार को सम्भव बनाने के लिए इस घोषणा ने किसी व्यक्ति को अपनी इच्छा से गिरफ्तार करने की मनाही की है। इस घोषणा में यह व्यवस्था भी है कि किसी व्यक्ति को इच्छानुसार गिरफ्तार अथवा नजरबन्द नहीं किया जाएगा और न ही किसी को देश निकाला दिया जाएगा।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 9 में की गई है।)

7. न्यायपूर्ण और सार्वजनिक सुनवाई का अधिकार (Right to a fair and public Hearing)—इस घोषणा में यह व्यवस्था है कि सभी व्यक्तियों को समान रूप से स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायालय द्वारा न्यायपूर्ण और सार्वजनिक सुनवाई का अधिकार प्राप्त होगा। यदि किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई फौजदारी का आरोप लगाया जाता है, या किसी व्यक्ति के अधिकारों और ज़िम्मेवारियों को निश्चित करने का विषय है तो भी उस व्यक्ति को स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायालय द्वारा सार्वजनिक सुनवाई का अधिकार होगा। जिस व्यक्ति के विरुद्ध दण्डात्मक अपराध का दोष है कि वह व्यक्ति उस समय तक निर्दोष माना जाएगा जब तक कानूनानुसार सार्वजनिक सुनवाई द्वारा उसका अपराध सिद्ध नहीं हो जाता। इस घोषणा के अनुसार ऐसे व्यक्ति को अपनी सुरक्षा के लिए आवश्यक व्यवस्थाएं प्राप्त होना अनिवार्य है। इस घोषणा में यह भी अंकित है कि किसी व्यक्ति के विरुद्ध किसी ऐसे कार्य के कारण दण्डात्मक अपराध नहीं लगाया जाएगा जो काम कानूनानुसार उस समय दण्डात्मक अपराध नहीं था, जब वह काम किसी व्यक्ति द्वारा किया गया था। इनका अभिप्राय यह है कि केवल ऐसे कार्यों को ही दण्डात्मक अपराध माना जाएगा जिन कामों के विषय में ऐसी व्यवस्था राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय कानून में है।

(यह अधिकार अनुच्छेद 10 और 11 में अंकित है)

8. वैयक्तिक गुप्तता का अधिकार (Right to personal privacy)—इस घोषणा में यह अंकित है किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत या वैयक्तिक, परिवार, घर या पत्र-व्यवहार में अवैधानिक हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा और न ही उसकी इज्जत और गौरव पर कोई आक्रमण किया जाएगा। यदि किसी व्यक्ति से ऐसा होता है तो उस व्यक्ति को ऐसे अहस्तक्षेप या आक्रमण के विरुद्ध कानून की सुरक्षा का अधिकार प्राप्त होगा।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 12 में की गई है)

9. भ्रमण और निवास की स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Freedom of Movement and Residence)—इस घोषणा में यह व्यवस्था है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने राज्य की सीमाओं में भ्रमण की गतिविधि एवं रहने का अधिकार होगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपना देश छोड़ने और पुनः अपने देश वापस लौटने का अधिकार होगा।

(यह अधिकार अनुच्छेद 14 में अंकित है)

10. विवाह का अधिकार (Right to Marriage)—पुरुष और स्त्रियों को नस्ल, राष्ट्रीयता या धर्म के प्रतिबन्ध से स्वतन्त्र विवाह करने और परिवार बनाने का अधिकार प्राप्त होगा। पुरुष और स्त्रियों की आयु राष्ट्रीय कानूनानुसार विवाह के योग्य होना आवश्यक है। मानवाधिकारों की इस घोषणा में यह व्यवस्था है कि पुरुष और स्त्री को स्वतन्त्र एवं पूर्ण सहमति से विवाह किया जा सकता है। विवाह के विषय में, वैवाहिक जीवन के दौरान और विवाह के भंग होने के विषय में पति और पत्नी को समान अधिकार प्राप्त होंगे। इस घोषणा में यह भी कहा गया है कि परिवार समाज की प्राकृतिक और मौलिक सामूहिक इकाई है और परिवार समाज एवं राज्य की सुरक्षा का अधिकार प्राप्त है।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 16 में है)

11. अन्तःकरण और धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to freedom of Conscience and Religion)—मानवाधिकारों की घोषणा यह व्यवस्था करती है कि प्रत्येक व्यक्ति को विचार, अन्तःकरण और धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त होगा। इस अधिकार में धर्म परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता भी शामिल होगी। इस अधिकार के अन्तर्गत व्यक्ति अकेला या दूसरों के साथ मिलकर वैयक्तिक या सार्वजनिक रूप में अपने धर्म की अभिव्यक्ति कर सकता है और अपने धर्म की प्रथाओं के अनुसार उपासना भी कर सकता है।

(इस अधिकार की व्यवस्था 18 में की गई है)

12. सभा और समुदायों की स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to freedom of Assembly and Association)—इस घोषणा ने प्रत्येक व्यक्ति को शान्तिमय सभा करने और समुदाय बनाने का अधिकार दिया है। इस अधिकार के अनुसार किसी व्यक्ति को किसी समुदाय में शामिल होने के लिए विवश नहीं किया जा सकता।

(यह अधिकार अनुच्छेद 20 में अंकित है)

13. शिक्षा का अधिकार (Right to Education)—इस घोषणा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। कम से कम प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य होगी। प्रौद्योगिकी एवं व्यावसायिक शिक्षा की उपलब्धता होगी और उच्च शिक्षा योग्यता के आधार पर प्राप्त करने का सभी को समान अधिकार होगा। शिक्षा ऐसे स्वरूप की होगी जिसका उद्देश्य

मानवीय व्यक्तित्व का पूर्ण विकास और मानवाधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं के लिए सम्मान को शक्तिशाली बनाना होगा। शिक्षा के साधन द्वारा सभी राष्ट्रों, नस्लीय या धार्मिक समूहों में सद्भावना, सहनशीलता और मित्रता को विकसित किया जाएगा। शिक्षा द्वारा शान्ति की स्थापना के लिए संयुक्त राष्ट्र की गतिविधियों में वृद्धि की जाएगी। माता-पिता को अपने बच्चों के लिए शिक्षा का चयन करने का प्रथम अधिकार होगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि किसी राज्य द्वारा विशेष प्रकार शिक्षा बच्चों पर थोपी नहीं जा सकती।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 26 में की गई है)

14. समाज के सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार (Right to participate in the Cultural life of the Community)—इस घोषणा ने प्रत्येक व्यक्ति को सांस्कृतिक जीवन में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लेने का अधिकार दिया है। प्रत्येक व्यक्ति समाज की कलात्मक और वैज्ञानिक उपलब्धियों या विकास से लाभ प्राप्त करने का अधिकारी है। यदि किसी व्यक्ति ने कोई वैज्ञानिक, साहित्यिक या कलात्मक कृति उत्पन्न की है तो उस व्यक्ति को अपनी रचना के नैतिक और भौतिक हितों की सुरक्षा का पूर्ण अधिकार है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी व्यक्ति को उसकी अपनी मौलिक कृति के लाभों से वंचित नहीं किया जा सकता।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 27 में है)

15. सामाजिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का अधिकार (Right to social and international order)—मानवाधिकारों की इस घोषणा ने यह व्यवस्था भी की है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का अधिकार है जिसमें इस घोषणा में अंकित अधिकारों का वास्तविक आनन्द भोगा जा सके।

(ये व्यवस्थाएं अनुच्छेद 28 में अंकित हैं)

2. आर्थिक अधिकार
(ECONOMIC RIGHTS)

मानवाधिकारों की घोषणा में अंकित निम्नलिखित अधिकार आर्थिक अधिकारों की श्रेणी में शामिल किए जाते हैं—

1. सम्पत्ति का अधिकार (Right to Property)—इस घोषणा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एकल रूप में या दूसरों के साथ मिलकर सम्पत्ति रखने का अधिकारी है। किसी व्यक्ति को स्वेच्छा से उसकी सम्पत्ति में उसे वंचित नहीं किया जा सकता।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 17 करता है)

2. सामाजिक सुरक्षा का अधिकार (Right to Social Security)—इस घोषणा में यह व्यवस्था की है कि समाज के सदस्य के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा का अधिकार प्राप्त है। उसे राष्ट्रीय प्रयासों और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा ऐसे आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार प्राप्त करने का भी अधिकार है जो उसके गौरव और उसके व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास के लिए आवश्यक हैं। ऐसे अधिकार व्यक्ति को उसके राज्य के साधनों के अनुकूल ही प्राप्त हो सकते हैं।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 22 में है)

3. काम का अधिकार (Right to Work)—इस घोषणा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को काम का अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार के साथ उसे अपने व्यवसाय का स्वतन्त्र चयन करने, काम की उचित अवस्थाओं और बेरोज़गारी के विरुद्ध सुरक्षा का अधिकार प्राप्त है। जहां व्यक्तियों को काम का अधिकार प्राप्त हो वहां प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार काम देना सरकार का दायित्व होता है। यदि सरकार अपने लोगों के लिए काम का प्रबन्ध न कर सके तो बेरोज़गारों को सरकार द्वारा जीवन निर्वाह करने के लिए अनिवार्य भत्ता दिया जाता है।

(काम के अधिकारी की व्यवस्था अनुच्छेद 23 (1) में की गई है)

4. उचित वेतन का अधिकार (Right to just Remuneration)—इस घोषणा के अनुसार काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उचित और लाभकारी वेतन लेने का अधिकार प्राप्त है। इस वेतन की मात्रा उतनी अवश्य होनी चाहिए जिसके साथ वह अपने और परिवार के जीवन को मानवीय गौरव के अनुसार जीने योग्य बना सके। यदि उसका वेतन थोड़ा है तो उसके आवश्यकताओं के अनुसार सामाजिक सुरक्षा के अन्य साधनों द्वारा उसके वेतन की कमी पूरी की जानी चाहिए।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 23 (3) में की गई है)

5. समान काम के लिए समान वेतन का अधिकार (Equal pay For Equal Work)—इस घोषणा ने यह भी व्यवस्था

की है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक समान काम के लिए एक समान वेतन का अधिकार प्राप्त है। वेतन सम्बन्धी किसी व्यक्ति के विरुद्ध किसी तरह का भेदभाव नहीं किया जा सकता।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 23 (2) में की गई है)

6. व्यापारिक संघ बनाने और उसमें शामिल होने का अधिकार (Right to Form and Join Trade Unions)—इस घोषणा में यह व्यवस्था अंकित है कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने हितों की सुरक्षा के लिए व्यापारिक संघ बनाने और उसमें शामिल होने का अधिकार है।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 23 (4) में की गई है)

7. छुट्टी व आराम का अधिकार (Right to Rest and Leisure)—इस घोषणा ने यह व्यवस्था की है कि प्रत्येक व्यक्ति को छुट्टी और आराम का अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार में काम के समय का उचित रूप में निश्चित होना और वेतन सहित निर्धारित छुट्टियां शामिल हैं।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 24 में की गई है)

8. अच्छे जीवन-स्तर का अधिकार (Right to decent standard to Life)—इस घोषणा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे जीवन-स्तर का अधिकार है जो उसके और उसके परिवार के कल्याण के लिए आवश्यक है। ऐसे जीवन-स्तर के लिए व्यक्ति को अच्छा भोजन, कपड़ा, मकान, चिकित्सा और अन्य सामाजिक सेवाएं प्राप्त होना अनिवार्य हैं। इसके साथ ही व्यक्ति को बेरोजगारी, बीमारी, असक्षमता, विधवापन, वृद्धावस्था और आजीविका की कमी वाली अन्य अवस्थाओं में व्यक्ति को सुरक्षा का अधिकार प्राप्त होना आवश्यक है।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 25 में की गई है)

9. माताओं और बच्चों की विशेष देखभाल (Special Care of Mothers and Children)—इस घोषणा ने यह व्यवस्था की है कि माताएं एवं बच्चे विशेष देख-रेख और सहायता के अधिकारी हैं। इस घोषणा में यह व्यवस्था भी है कि अनुचित बच्चों सहित समस्त बच्चों को समान सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिए।

(यह अधिकार अनुच्छेद 25 में अंकित हैं)

यहां यह वर्णनीय है कि इन आर्थिक अधिकारों को नागरिक अधिकार भी माना जाता है।

3. राजनीतिक अधिकार
(POLITICAL RIGHTS)

मानवाधिकारों की घोषणा में अंकित निम्नलिखित अधिकार राजनीतिक अधिकारों की श्रेणी में आते हैं—

1. शरण लेने का अधिकार (Right to seek Asylum)—मानवाधिकारों की इस घोषणा में यह व्यवस्था है कि अत्याचारों से बचने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे देशों में शरण प्राप्त करने का अधिकार होगा। इस अधिकार का प्रयोग केवल राजनीतिक अपराधों से सम्बद्ध व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकता है। अराजनीतिक अपराधों या संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों और सिद्धान्तों के विरुद्ध किए गए कार्यों के विषय में शरण प्राप्त करने के अधिकार का लाभ नहीं उठाया जा सकता।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 14 में है)

2. राष्ट्रीयता का अधिकार (Right to Nationality)—मानवाधिकारों की घोषणा यह व्यवस्था करती है कि प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्रीयता का अधिकार होगा और किसी भी व्यक्ति को मनमर्जी में उसकी राष्ट्रीयता से उसे वंचित नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति अपनी राष्ट्रीयता से बदलना चाहता है तो उस व्यक्ति को राष्ट्रीयता बदलने के अधिकार से रोका नहीं जाएगा।

(यह अधिकार अनुच्छेद 15 में अंकित है)

3. मत बनाने एवं मत व्यक्त करने की स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Freedom of Opinion and Expression)—इस घोषणा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपना मत बनाने या रखने और उस मत की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है। इस अधिकार में किसी भी साधन द्वारा सूचना या विचार प्राप्त करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। ऐसे विचार या सूचनाएं राज्य की सीमाओं के बाहर से भी प्राप्त की जा सकती हैं।

(यह अधिकार अनुच्छेद 19 में अंकित है)

4. शासन में भाग लेने का अधिकार (Right to take part in the Government)—संयुक्त राष्ट्र की इस घोषणा में यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश के शासन में भाग लेने का अधिकार है। इस अधिकार का प्रयोग व्यक्ति द्वारा प्रत्यक्ष रूप में अथवा स्वतन्त्र रूप में निर्धारित अपने प्रतिनिधियों द्वारा किया जा सकता।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 21 (1) में की गई है)

5. सार्वजनिक पद प्राप्ति के लिए समान अधिकार (Equal Rights to acquire Public office)—मानवाधिकारों की सार्वजनिक पद प्राप्त करने के लिए समान पहुंच का अधिकार सार्वभौमिक घोषणा ने यह व्यवस्था की है कि प्रत्येक व्यक्ति को सार्वजनिक पद प्राप्त करने के लिए समान पहुंच का अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार का अर्थ यह है कि सार्वजनिक पद प्राप्त करने से किसी व्यक्ति को जन्म, धर्म, जाति, नस्ल आदि के आधार पर वंचित नहीं किया जा सकता। इस अधिकार का यह अर्थ भी है कि सार्वजनिक पद किसी विशेष आधार पर कुछ विशेष व्यक्तियों के लिए आरक्षित नहीं रखे जा सकते। सार्वजनिक पद के लिए समान पहुंच के अधिकार का अर्थ ही यह है कि बिना किसी भेदभाव के प्रत्येक व्यक्ति को सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार है।

(इस अधिकार की व्यवस्था अनुच्छेद 21 (2) में की गई है)

6. सार्वभौमिक व समान मताधिकार का अधिकार (Right to Universal and Equal Suffrage)—यहां यह वर्णन योग्य है कि इस घोषणा में वयस्क मताधिकार (Adult Franchise) की व्यवस्था नहीं की गई। इस घोषणा ने न तो मताधिकार (Right to Vote) और न ही चुनाव लड़ने के अधिकार (Right to Contest Election) की व्यवस्था की है। इस घोषणा में तो यह व्यवस्था है कि, ''सरकार की सत्ता का आधार लोगों की इच्छा होगी। इस इच्छा का प्रकटीकरण नियतकालीन चुनावों द्वारा किया जाएगा। ऐसे चुनाव सार्वभौमिक और समान मताधिकार के आधार पर करवाए जाएंगे। यह चुनाव गुप्त मतदान अथवा इसके समान अन्त: मतदान विधियों द्वारा करवाए जाएंगे।''[1]

अनुच्छेद 21 (3) की इस व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि मताधिकार सार्वभौमिक होगा और किसी व्यक्ति को किसी भी आधार पर मताधिकार से वंचित नहीं किया जाएगा।

4 स्वतन्त्रता की धारणा एवं सिद्धान्त
(CONCEPT AND THEORIES OF LIBERTY)

स्वतन्त्रता की धारणा
(CONCEPT OF LIBERTY)

स्वतन्त्रता का शाब्दिक अर्थ (Etymological Meaning of Liberty)—स्वतन्त्रता अंग्रेज़ी भाषा के शब्द 'Liberty' का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेज़ी भाषा का शब्द Liberty लातीनी भाषा के शब्द Liber से बना है। लातीनी भाषा Liber शब्द का अर्थ स्वतन्त्रता अर्थात् प्रत्येक प्रकार के प्रतिबन्ध का अभाव है। इसका अभिप्राय है कि Liberty शब्द की रचना की दृष्टि से स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध का न होना है। साधारण शब्दों में, स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध का न होना है और उसे प्रत्येक कार्य में मनमानी करने की छूट देता है।

स्वतन्त्रता की परिभाषा
(DEFINITION OF LIBERTY)

भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा दी गई स्वतन्त्रता की परिभाषाएं इस प्रकार हैं—

1. सीले के विचारानुसार, "स्वतन्त्रता अति शासन का विपरीत रूप है।"[1]

2. कोल के अनुसार, "बिना किसी बाहरी प्रतिबन्ध के अपने व्यक्तित्व को व्यक्त करने के अधिकार का नाम स्वतन्त्रता है।"[2]

3. ग्रीन के शब्दों में, "स्वतन्त्रता का अर्थ करने योग्य कार्यों को करने या भोगने योग्य वस्तुओं को भोगने की क्षमता है।"[3]

4. मैकिनी के विचारानुसार, "स्वतन्त्रता प्रत्येक प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव नहीं है अपितु अनुचित प्रतिबन्धों के स्थान पर उचित प्रतिबन्धों की स्थापना है।"[4]

5. लॉस्की के अनुसार, "स्वतन्त्रता से भाव ऐसे वातावरण का प्रबन्ध करना है जिसमें व्यक्तियों को अपने सर्वोत्तम विकास के लिए आवश्यक अवसर मिल सकें।"[5]

उपर्युक्त परिभाषाओं का अवलोकन करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाएगा कि स्वतन्त्रता का अर्थ प्रत्येक प्रकार के प्रतिबन्धों का न होना नहीं, अपितु अनुचित और अनैतिक प्रतिबन्धों का न होना है। संक्षेप में, स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति को यह सभी कार्य करने की छूट है, जो करने योग्य है, जो उनके व्यक्तिगत विकास के लिए आवश्यकहैं और जो किसी अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं करते।

स्वतन्त्रता के भिन्न-भिन्न रूप या प्रकार
(DIFFERENT KINDS OF LIBERTY)

स्वतन्त्रता के मुख्य रूप इस प्रकार हैं —

1. प्राकृतिक स्वतन्त्रता (Natural Liberty)—प्राकृतिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य व्यक्ति को स्वेच्छा से बिना किसी बन्धन के प्रत्येक प्रकार का कार्य करने की छूट है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता का प्रचार मुख्यत: समझौतावादियों (Contractualists) ने किया है। उसके विचारानुसार राज्य के अस्तित्व में आने से पूर्व व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था (The State of Nature) में रहते थे और उन्हें बन्धन रहित पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। प्राकृतिक अवस्था में किसी प्रकार के कानून नहीं थे और इसी प्रकार व्यक्ति प्रत्येक प्रकार के प्रतिबन्धों से मुक्त था।

संक्षेप में, प्राकृतिक स्वतन्त्रता का अर्थ ऐसी स्वतन्त्रता से है जो मनुष्य को राज्य के अस्तित्व में आने से पूर्व प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में प्राप्त थी। उस पर किसी प्रकार के सामाजिक व कानूनी प्रतिबन्ध नहीं थे।

2. नागरिक स्वतन्त्रता (Civil Liberty)—समाज का सदस्य होने के नाते व्यक्ति को जो सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, उन्हें ही नागरिक या सामाजिक स्वतन्त्रता का नाम दिया जाता है। साधारण शब्दों में, नागरिक स्वतन्त्रता वह स्वतन्त्रता है जो व्यक्ति को एक संगठित समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त होती है। इस प्रकार नागरिक स्वतन्त्रता को समाज में प्राप्त होने वाली स्वतन्त्रता कह सकते हैं। इस रूप में नागरिक स्वतन्त्रता प्राकृतिक स्वतन्त्रता के विल्कुल विपरीत है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता व्यक्ति को समाज के अस्तित्व में आने से पूर्व प्राप्त हुई मानी जाती है और नागरिक स्वतन्त्रता केवल संगठित समाज में ही सम्भव हो सकती है।

3. राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty)—राजनीतिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय ऐसी स्वतन्त्रता से है जिसके द्वारा नागरिकों को सरकार के कार्यों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त होता है। **प्रो० लॉस्की** के अनुसार, "राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ राज्य के कामों में भाग लेने की शक्ति से है।"[1] साधारण शब्दों में, राजनीतिक स्वतन्त्रता से है जिसके द्वारा लोगों को अपनी सरकार चुनने, सरकार की नीतियों की आलोचना करने, सरकार के कार्यों में भाग लेने और सरकार की नीतियों को प्रभावित करने के अवसर प्राप्त होते हैं। ऐसी स्वतन्त्रता कुछ राजनीतिक अधिकारों पर आधारित होती है। उदाहरणस्वरूप मत देने का अधिकार, चुनाव लड़ने का अधिकार, सरकारी पद प्राप्त करने का अधिकार, सरकार की नीतियों की आलोचना करने का अधिकार, भाषण देने और विचार व्यक्त करने का अधिकार इत्यादि राजनीतिक स्वतन्त्रता के मुख्य आधार हैं।

4. आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Liberty)—आर्थिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह नहीं कि व्यक्ति को मुक्त व्यापार (Free Trade) की आज्ञा हो या व्यापारिक क्षेत्र में सरकार का कोई नियन्त्रण न हो। वास्तव में आर्थिक स्वतन्त्रता से अभिप्राय यह है कि व्यक्ति प्रत्येक प्रकार की आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त हो और वह आर्थिक पक्ष से किसी के अधीन न हो। **प्रो० लॉस्की** के अनुसार, "आर्थिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय मनुष्य को अपनी जीविका कमाने के लिए उचित सुरक्षा और सुविधाओं का प्राप्त होना।" इसका अभिप्राय यह है कि सरकार को ऐसे समृद्ध वातावरण उत्पन्न करना चाहिए जिसमें व्यक्ति को अपनी जीविका कमाने और उचित ढंग से अपना जीवन निर्वाह करने के लिए प्रत्येक प्रकार की आर्थिक सुविधाएं प्राप्त हों। इस उद्देश्य के लिए व्यक्ति को बिना किसी भेदभाव के कार्य करने का अधिकार, उचित वेतन प्राप्त करने का अधिकार, विश्राम और अवकाश का अधिकार, आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा का अधिकार और शोषण के विरुद्ध अधिकार इत्यादि प्राप्त होने चाहिएं।

5. राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (National Liberty)—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अभिप्राय विदेशी नियन्त्रण से मुक्ति है। यदि कोई राष्ट्र किसी विदेशी सत्ता का दास है तो उस राष्ट्र के व्यक्तियों के लिए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में ठीक प्रकार से विकास करना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए लोग बड़े-से-बड़ा बलिदान भी हँसकर देने के लिए तैयार रहते हैं। प्रत्येक राष्ट्र को विदेशी नियन्त्रण से मुक्ति के अतिरिक्त अपना संविधान बनाने, स्व-शासन करने, प्रत्येक प्रकार की आंतरिक और बाहरी नीति का निर्माण करने, अपनी इच्छानुसार दूसरों से सम्बन्ध स्थापित करने आदि की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसी प्रकार को ही हम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की संज्ञा देते हैं।

6. नैतिक स्वतन्त्रता (Moral Liberty)—नैतिक स्वतन्त्रता मुख्य तौर पर मनुष्य की आत्मा से सम्बन्धित है। इसका साधारण अर्थ प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा की आवाज के अनुसार व्यवहार करने की स्वतन्त्रता है। जहां व्यक्ति को किसी भी मजबूरी के अधीन अपनी आत्मा के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है वहां नैतिक स्वतन्त्रता का अस्तित्व नहीं हो सकता है। नैतिक स्वतन्त्रता का क्षेत्र राज्य के अधिकार क्षेत्र से बाहर माना जाता है। राज्य के सारे कार्य व्यक्ति को आन्तरिक आत्मा की आवाज के प्रतीक नहीं होते हैं। जब राज्य व्यक्ति की आन्तरिक भावना के विरुद्ध कार्य करता है तो वह व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता नष्ट कर रहा होता है। राज्य किसी को नैतिक व्यक्ति नहीं बना सकता। राज्य ने ऐसी अवस्थाएं विकसित करनी होती हैं जो व्यक्ति के नैतिक स्वतन्त्रता को यकीनी बनाती हों।

7. निजी स्वतन्त्रता (Personal Liberty)—प्रसिद्ध विद्वान् **जॉन स्टुअर्ट मिल** का कथन है, "व्यक्ति अपने आप का, अपने शरीर एवं मन का प्रभुत्त्वशाली स्वामी है।"[1] मिल का यह कथन व्यक्ति की निजी स्वतन्त्रता का प्रकटावा है। मिल ने यह भी कहा था कि व्यक्ति को उन सभी कार्यों सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए जो केवल व्यक्ति से सम्बन्धित हैं और जिनका प्रभाव किसी अन्य व्यक्ति पर नहीं पड़ता है। यह ठीक है कि प्रत्येक व्यक्ति को अधिक-से-अधिक निजी स्वतन्त्रता दी जानी आवश्यक है, परन्तु ऐसी स्वतन्त्रता असीमित नहीं हो सकती है। समाज में रहने वाले व्यक्तियों की सुरक्षा को यकीनी बनाना राज्य का महत्त्वपूर्ण कार्य है। राज्य अपने इस कार्य को तभी पूर्ण कर सकता है यदि प्रत्येक व्यक्ति की निजी स्वतन्त्रता अन्य व्यक्ति को ऐसी स्वतन्त्रता के अनुकूल हो। किसी व्यक्ति की निजी स्वतन्त्रता उस सीमा तक ही असीमित हो सकती है जिस सीमा तक वह स्वतन्त्रता अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को नष्ट न करती हो।

8. धार्मिक स्वतन्त्रता (Religious Liberty)—धार्मिक स्वतन्त्रता नैतिक स्वतन्त्रता का अटूट अंग है। नैतिक स्वतन्त्रता की तरह धार्मिक स्वतन्त्रता भी व्यक्ति की आन्तरिक आत्मा से सम्बन्धित है। धर्म-प्रत्येक व्यक्ति का निजी मामला है। किसी धर्म पर विश्वास करना या न करना, आस्तिक या नास्तिक होना व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर करता है। धार्मिक स्वतन्त्रता का भाव ही यह है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी भी धर्म को ग्रहण करे, उसका प्रचार करे, उसकी शिक्षाओं पर अमल करने या न करने के लिए स्वतन्त्र है। राज्य द्वारा व्यक्तियों पर कोई विशेष धर्म थोंपना व्यक्तियों की धार्मिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध है। राज्य धर्म निरपेक्ष होना चाहिए धर्म के मामले में उसका कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। यदि किसी धर्म की कोई शिक्षा राष्ट्रीय एकता या जनतक व्यवस्था या देश की अखण्डता के लिए हानिकारक सिद्ध होती है तो राज्य ऐसे धर्म के प्रचार पर योग्य पाबन्दियां लगा सकता है।

निष्कर्ष (Conclusion)—स्वतन्त्रता के विभिन्न रूपों का अध्ययन करने के बाद हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि व्यक्ति के विकास के लिए प्रत्येक प्रकार की स्वतन्त्रता का महत्त्व है। सभ्य सामाजिक जीवन में प्राकृतिक स्वतन्त्रता का होना तो सम्भव नहीं है, परन्तु नागरिक स्वतन्त्रता, राजनीतिक स्वतन्त्रता, आर्थिक स्वतन्त्रता का होना अत्यन्त आवश्यक है। कोई विदेशी शासक ऐसी स्वतन्त्रताएं अपने अधीनस्थ लोगों को प्रदान नहीं करता क्योंकि ऐसा करने से उसका अपना अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। ऐसी स्वतन्त्रताएं वास्तविक रूप में केवल स्वतन्त्र राष्ट्र में ही सम्भव हो सकती हैं। इसलिए इन सभी स्वतन्त्रताओं से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अधिक महत्त्वपूर्ण है।

नकारात्मक स्वतन्त्रता का अर्थ और परिभाषा
(MEANING AND DEFINITION OF NEGATIVE LIBERTY)

नकारात्मक स्वतन्त्रता का साधारण अर्थ "प्रतिबन्धों का अभाव" (Absence of Restraints) है। अन्य शब्दों में, नकारात्मक स्वतन्त्रता का अर्थ है कि राज्य या समाज की ओर से व्यक्ति पर प्रतिबन्ध नहीं होने चाहिएं और व्यक्ति की स्वेच्छा से तथा आत्मा के अनुसार प्रत्येक प्रकार के कार्य करने की छूट होनी चाहिए। नकारात्मक स्वतन्त्रता के अर्थों का वर्णन करते हुए **मैसोनो सालवडोरी** ने कहा है कि, "स्वतन्त्रता का अर्थ स्वतन्त्र चयन है। इसका अर्थ व्यक्ति के कार्यों के प्रति व्यक्ति का अपना स्वतन्त्र निर्णय है। अपने कार्य के प्रति निर्णय करना व्यक्ति की अपनी अच्छा है और इसके बाहर-भीतर के जगत् का उसके ऐसे निर्णय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।"[1]

नकारात्मक स्वतन्त्रता की परिभाषा देते हुए **डी० डी० रफेल** ने कहा है, कि "स्वतन्त्रता का अर्थ प्रतिबन्धों का अभाव है। एक व्यक्ति तब तक स्वतन्त्र है जब तक उसे कुछ करने से रोका नहीं जाता जो कुछ वह करना चाहता है।"[1]

इसाय बर्लिन के कथनानुसार, "नकारात्मक पक्ष से स्वतन्त्र होने का यह अर्थ है कि मैं अन्य लोगों के हस्तक्षेप से मुक्त हूं। अहस्तक्षेप का क्षेत्र जितना विस्तृत होगा, उतना ही मैं अधिक स्वतन्त्र हूंगा।"[2]

स्वतन्त्रता का उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि नकारात्मक स्वतन्त्रता का अर्थ प्रतिबन्धों का अभाव है। इसके अतिरिक्त इसका अर्थ व्यक्ति के जीवन में वाह्य हस्तक्षेप का न होना।

नकारात्मक स्वतन्त्रता के आधार
(GROUNDS OR BASIS OF NEGATIVE LIBERTY)

नकारात्मक स्वतन्त्रता के व्याख्याकारों ने स्वतन्त्रता का जो रूप पेश किया है, वह उसकी केवल कल्पना का आविष्कार नहीं है वरन् वह मत के पक्ष में महत्त्वपूर्ण तर्क भी देते हैं। अन्य शब्दों में कुछ ऐसे आधार हैं जिसको सम्मुख रख कर नकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा प्रस्तुत की गई है। ऐसे कुछ आधारों की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है —

1. प्रतिबन्ध एक बुराई है (Restraint is an Evil)—निषेधात्मक स्वतन्त्रता के समर्थक व्यक्ति पर किसी प्रतिबन्ध को एक बुराई मानते हैं। उनके मतानुसार, ऐसा प्रतिबन्ध और भी अधिक कठोर बुराई बन जाता है जब कभी कोई प्रतिबन्ध राज्य या समाज के दबाव के अधीनस्थ व्यक्ति पर थोपा जाता है। **जे० एस० मिल** का कथन है कि, "प्रतिबन्ध एक बुराई है। लोगों को नियन्त्रित करने की अपेक्षा उन्हें अपने ऊपर छोड़ देने से ही अधिक अच्छा है।"[3] जब कभी दबाव पूर्ण व्यक्ति की आत्मिक स्वतन्त्रता की कुचलता है तो व्यक्ति के व्यक्तित्व का ठीक विकास नहीं हो सकता। इसलिए व्यक्तित्व के विकास के लिए यह अनिवार्य है कि व्यक्ति पर प्रतिबन्ध न लगाये जाएं।

2. प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों का स्वयं रक्षक है (Every Individual is the Guardian of his own's Interests)—नकारात्मक स्वतन्त्रता के चिन्तक व्यक्ति को तर्कशील प्राणी मानते हैं। उनके विचारानुसार व्यक्ति स्वाभाविक रूप में अहंवादी व स्वार्थी है। वह अपने हितों को समझने की तर्कशीलता रखता है। इसलिए राज्य या समाज को व्यक्ति के हितों की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार अपने हितों की सुरक्षा एवं विकास के लिए प्रयत्न करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए। इस विषय में **जे० एस० मिल** ने कहा था, "वास्तविक स्वतन्त्रता तभी होगी जब हम अपनी भलाई के लिए स्वेच्छा से तब तक प्रयत्न करते रहेंगे जब तक कि हम अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधा नहीं बनते। प्रत्येक व्यक्ति अपने शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास का स्वयं रक्षक है। मानव जाति की इस बात में अधिक भलाई है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वेच्छा से रहने की आज्ञा दी जाए तथा उसे अन्य व्यक्तियों की इच्छाओं के अनुसार चलने के लिए विवश न किया जाए।"[1]

3. व्यक्तिगत तथा सामाजिक विकास व्यक्ति की स्वतन्त्र पसन्द पर निर्भर करता है (Individual and Social Progress depends upon Individuals's Free Choice)—नकारात्मक स्वतन्त्रता के समर्थकों के अनुसार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सामाजिक उन्नति की प्रथम शर्त है। यदि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार अपने कार्यों के विषय में निर्णय नहीं कर सकेगा तो ऐसे व्यक्ति का सन्तुलित विकास सम्भव नहीं होगा। जिन समाज के व्यक्तियों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता या वैयक्तिक चयन का अधिकार नहीं है, उसकी समाज में सामाजिक उन्नति भी संभव नहीं हो सकेगी। उदारवादी-व्यक्तिवादियों ने सामाजिक हित को अपने भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हितों के समूह के समान माना है। इसलिए सामाजिक उन्नति के लिए व्यक्ति की उन्नति आवश्यक है। यदि व्यक्ति पर राज्य या समाज के अधिक बलशाली बन्धन होंगे तो न तो व्यक्ति की तथा न ही समाज की उन्नति सम्भव हो सकेगी।

4. दबाव का अभाव स्वतन्त्रता का मूल आधार है (The Absence of Coercion is the Basis of Liberty)—**इसाय बर्लिन** के कथनानुसार, "यदि आपको अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अन्य लोगों द्वारा रोका जाता है तो आपको राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है।"[2]

इसी विचार को **मिल्टन फ्राइडमैन** (Milton Friedum) ने यह कह कर व्यक्त किया है कि "राजनीतिक स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ यह है कि एक व्यक्ति पर उसने साथियों के दबाव का अभाव है।"[3] व्यक्ति पर उसके साथियों का कोई दबाव होता है तो उस समाज में

इन चिन्तकों का यह मत है कि जब किसी समाज में व्यक्तियों को वास्तव में स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती। दबावपूर्ण का न होना ही स्वतन्त्रता का एक महत्त्वपूर्ण आधार है।

5. वैयक्तिक विषयों में स्वतन्त्रता अनिवार्य है (Liberty in Personal Affair is Essential)—नकारात्मक स्वतन्त्रता के समर्थक वैयक्तिक विषयों में स्वतन्त्रता को बहुत अनिवार्य मानते हैं। **जे० एस० मिल** के कथनानुसार, "सरकारी हस्तक्षेप शारीरिक या मानसिक गुणों के विकास को रोक सकता है। इसलिए व्यक्ति वह कुछ नहीं कर सकता जो कुछ वह करना चाहता है। व्यक्ति अपने वैयक्तिक निर्णय के अनुसार वह कार्य नहीं कर सकता जिसे वह करने के योग्य समझता है।"[4]

इसलिए व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया है। एक प्रकार के ऐसे कार्य हैं जिनका प्रभाव उन कार्यों को करने वाले व्यक्ति तक ही सीमित रहता है। दूसरी प्रकार के वो कार्य हैं जिनका प्रभाव उन कार्यों को करने वाले व्यक्ति के अतिरिक्त समाज के अन्य व्यक्तियों पर भी पड़ता है। पहली प्रकार के कार्य को मिल ने व्यक्तिगत कार्य क्षेत्र में रखा है। इसलिए उसने यह विचार प्रस्तुत किया है कि ऐसे व्यक्तिगत कार्यों के विषय में राज्य को किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं नहीं करना चाहिए। राज्य को तो केवल उन कार्यों के विषय में ही कोई योग्य कार्यवाही करनी चाहिए जिन कार्यों पर प्रभाव समस्त समाज पर या समाज के अन्य व्यक्तियों पर पड़ता है।

6. **अधिक आर्थिक विकास (More Economic Development)**—नकारात्मक स्वतन्त्रता के पक्षधरों का यह मत भी है कि प्रतिबन्धों के अभाव के कारण अधिक आर्थिक विकास सम्भव हो सकता है। उनका विचार है कि व्यक्ति मौलिक रूप में व्यक्तिवादी तथा अपने स्वार्थ के लिए अधिक सजग होता है। जब उसको आर्थिक क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता होगी तथा राज्य के कानून उसकी स्वतन्त्रता को सीमित नहीं कर रहे होंगे तो व्यक्ति अपने हितों के विकास के लिए स्वतन्त्र रूप में अधिक-से-अधिक कार्य करेगा। जब आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तियों की स्वतन्त्र प्रतियोगिता होगी तो स्वाभाविक रूप में ही आर्थिक विकास की गति और अधिक तीव्र होगी। नकारात्मक स्वतन्त्रता के समर्थक यह तर्क देते हैं कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप आर्थिक विकास के लिए बाधा बनेगा तथा राज्य का अहस्तक्षेप अधिक-से-अधिक आर्थिक विकास के लिए सहायक सिद्ध होगा।

7. **राज्य का कार्य-क्षेत्र कम-से-कम (Sphere of State Activity to be Minimum)**—नकारात्मक स्वतन्त्रता के चिन्तकों ने राज्य को एक पुलिस राज्य के रूप में विचारा है। उनका मत है कि राज्य के कानून व्यक्तियों के प्रतिबन्धित दायित्व निश्चित करते हैं इसलिए राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अवहेलना करते हैं। अपने इस विचार के आधार पर ही उन्होंने राज्य को कम-से-कम, परन्तु अनिवार्य कार्य अर्पित करने का विचार प्रस्तुत किया है। उसके विचार में राज्य एवं पुलिस राज्य में अधिक कुछ नहीं है और राज्य के कार्य समाज में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखना है। इस विचार को व्यक्त करते हुए **हरबर्ट स्पैंसर** ने कहा था, ''राज्य इसलिए विद्यमान है क्योंकि समाज में अपराध विद्यमान है। यदि समाज में अपराध का अस्तित्व न हो तो फिर राज्य की आवश्यकता नहीं होगी।''1

आलोचना
(CRITICISM)

नकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गई है —

1. **प्रतिबन्धों के अभाव का अभिप्राय स्वतन्त्रता नहीं, अपितु अयोग्य छूट है (Absence of restraints is not Liberty but Licence)**—नकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा का मूल आधार ही मान्य नहीं है। प्रत्येक समाज में इस की स्वतन्त्रता सम्भव नहीं हो सकती। यदि समाज में रहने वाले व्यक्ति के स्वेच्छा से कार्य करने की पूरी छूट दे दी जाए तो उस समाज में स्वतन्त्रता नहीं वरन् अराजकता का अभ्युदय होगा। मनुष्य जहां तर्कशील प्राणी है वहां उसमें पाशविक वृत्तियाँ भी पाई जाती हैं। प्रतिबन्धों के अभाव की अवस्था में व्यक्ति की पाशविक वृत्तियाँ अधिक उत्तेजित होंगी और प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनुचित छूट बन जाएगी। इस प्रकार की उन्मुक्तता सभ्य तथा समृद्ध सामाजिक जीवन को नष्ट कर देगी।

2. **दबावपूर्ण प्रतिबन्ध का विचार अस्पष्ट है (The Notion of Coercive Restraint is Vague)**—नकारात्मक स्वतन्त्रता के कुछ चिन्तकों ने ''प्रतिबन्धों के अभाव'' की अपेक्षा दबावपूर्ण प्रतिबन्धों के अभाव का नाम दिया है। किसी भी अवस्था में प्रतिबन्ध के विषय में निश्चित रूप में निर्णय करना बहुत कठिन है कि वह प्रतिबन्ध दबावपूर्ण है या नहीं ? जब कोई भी प्रतिबन्ध व्यक्ति की अयोग्य छूट या मनमानी को नियन्त्रित करती है तो व्यक्तियों के लिए उचित प्रतिबन्ध भी दबावपूर्ण प्रतिबन्ध बन जाता है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि दबावपूर्ण प्रतिबन्ध की धारणा स्पष्ट है क्योंकि कोई प्रतिबन्ध किसी व्यक्ति या समूह के लिए दबावपूर्ण हो सकता है जबकि वही प्रतिबन्ध कुछ अन्य व्यक्तियों के समूहों के लिए तर्कशील या न्यायपूर्ण भी हो सकता है।

3. **तर्कशील या उचित प्रतिबन्ध बुराई नहीं है (Rational or proper restraint is not an Evil)**—नकारात्मक स्वतन्त्रता के व्याख्याकारों ने सामाजिक या राज्य के प्रतिबन्ध को व्यक्ति के लिए बुराई बताया है, परन्तु उनकी यह धारणा सत्य नहीं है। यदि समाज के नियम या राज्य के कानून व्यक्ति को सामाजिक अनुशासन में रखने के लिए कोई उचित प्रतिबन्ध लगाते हैं तो ऐसे प्रतिबन्धों को बुराई किस तरह कहा जा सकता है। यदि राज्य के कानून द्वारा श्रमिकों के लिए कार्य करने का अधिक से अधिक समय और कार्य उचित वेतन निश्चित किया जाए तो ऐसे कानून को व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विरोधी नहीं कहा जा सकता। **मैकेनी** (Makechnie) ने सही कहा है कि, ''स्वतन्त्रता प्रत्येक प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव नहीं है वरन् अनुचित प्रतिबन्धों के स्थान पर ही उचित प्रतिबन्धों का अस्तित्व है।''2

4. **प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों के विषय में उचित निर्णय करने के योग्य नहीं है (Every man is not Capable of properly judging his own Interests)**—नकारात्मक स्वतन्त्रता के समर्थकों का यह विचार ठीक नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों का उचित निर्णायक है। यही सही है कि व्यक्ति बौद्धिक और तर्कशील प्राणी है, परन्तु यह विचार ठीक नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने भले-बुरे की सही पहचान नहीं कर सकता है। वास्तव में नकारात्मक स्वतन्त्रता के समर्थकों ने व्यक्ति की सूझबूझ तथा तर्कशीलता पर कुछ अधिक ही विश्वास किया है। समाज में बच्चे, वृद्ध व्यक्ति भी होते हैं। वे सभी अपने अच्छे-बुरे की पहचान करने के योग्य नहीं होते। इसलिए यह धारणा स्वीकार नहीं की जा सकती कि व्यक्ति को अपने जीवन के विषय में प्रत्येक प्रकार के कार्य करने की छूट होनी चाहिए क्योंकि व्यक्ति अपने हितों की स्वयं रक्षा कर सकता है।

5. **राज्य की अहस्तक्षेप की नीति के भयानक परिणाम निकले थे (The policy of Laissez Faire resulted into serious Consequences)**—नकारात्मक स्वतन्त्रता के समर्थकों ने आर्थिक क्षेत्र में राज्य के अहस्तक्षेप की नीति पर बल दिया था। 18वीं तथा 19वीं शताब्दी में यूरोपियन तथा कई पाश्चात्य देशों में इस नीति को क्रियान्वित किया गया था, परन्तु इस नीति के बहुत भयावह परिणाम निकले। पूंजीपतियों ने श्रमिकों पर अमानवीय अत्याचार किये तथा अयोग्य साधनों द्वारा श्रमिक वर्ग का अत्यधिक शोषण किया। श्रमिकों की परिस्थिति इतनी अधिक दयनीय बन गई थी कि अनेक ओर से राज्य पर दबाव डाला था कि श्रमिकों के हितों के अन्तर्गत आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करें। ऐसी मांग के फलस्वरूप ही अनेक देशों में फैक्टरी एक्ट पास किये गये। इन कानूनों के अधीन श्रमिकों के लिए कार्य का समय और उनके परिश्रम की दर निश्चित की गई। इस तरह नकारात्मक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का दोष संसार के सामने आया और दोषों को दूर करने के लिए राज्य को आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करना पड़ा।

6. **व्यक्ति के लगभग प्रत्येक कार्य का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है (Almost every act of the Individual effects Others)**—जे० एस० मिल का कथन है कि व्यक्तियों के कुछ कार्यों का प्रभाव केवल उसी व्यक्ति तक ही सीमित होता है उसका यह विचार ठीक नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति जुआ खेलता हो तो प्रत्यक्ष रूप में वह अपना धन ही गंवा रहा होता है और आप ही बुरी आदतों का शिकार हो रहा होता है, परन्तु इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि उसके इस कार्य का प्रभाव उसके परिवार के सदस्यों एवं सम्पूर्ण समाज पर भी पड़ेगा। ऐसे व्यक्ति सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिए कोई योगदान नहीं दे सकते, अपितु वे सामाजिक जीवन में कुरीतियां फैलाते हैं। कहने का अभिप्राय है कि व्यक्तियों का कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जो किसी-न-किसी रूप में दूसरों को प्रभावित न करता हो।

7. **पूंजीवादी वर्ग का सिद्धान्त (Theory of Capitalist Class)**—नकारात्मक स्वतन्त्रता का विचार वास्तव में नकारात्मक राज्य की धारणा (Theory of Negative State) से सम्बन्धित है। राज्य की यह धारणा शास्त्रीय उदारवादी (Classical Liberalism) की धारणा है। जब 17वीं शताब्दी में शास्त्रीय उदारवाद या व्यक्तिवादी उदारवाद (Individualist Liberalism) का आरम्भ हुआ था, उस समय वहां एक नई पूंजीवादी श्रेणी का उदय हो रहा था। राज्य का विस्तृत क्षेत्राधिकार उस पूंजीवादी वर्ग के हितों में नहीं था। उस समय नया पूंजीवाद तभी विकसित हो सकता था यदि पूंजीपतियों को आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप से पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो और पुलिस राज्य के कार्यों से अधिक राज्य को कोई और कार्य न दिया जाए। इस नए पूंजीवादी वर्ग के हितों को सम्मुख रखकर ही व्यक्तिवाद-उदारवादियों ने नकारात्मक राज्य (Negative State) की धारणा और नकारात्मक स्वतन्त्रता (Negative Liberty) की धारणा दी थी।

निष्कर्ष (Conclusion)—नकारात्मक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त गलत धारणाओं पर आधारित है। स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्त करते हुए **टी० एच० ग्रीन** ने कहा है कि, ''स्वतन्त्रता का अर्थ करने योग्य कार्यों को करने तथा भोगने योग्य वस्तुओं को भोगने का सकारात्मक सामर्थ्य है।''1 प्रतिबन्धों रहित असीमित स्वतन्त्रता किसी भी मानवीय समाज में सम्भव नहीं हो सकती। आर्थिक क्षेत्र में राज्य के उचित हस्तक्षेप के बिना लोगों के जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं पूरी नहीं हो सकती हैं। यदि राज्य के कानूनों द्वारा और सामाजिक नियमों द्वारा मानवीय जीवन नियमित और नियन्त्रित न किया जाए तो समाज में अशान्ति तथा अराजकता का राज्य होगा। संक्षेप में, हम लॉस्की के इन शब्दों में कह सकते हैं कि ''स्वतन्त्रता का अर्थ उन सामाजिक अवस्थाओं के अस्तित्व पर प्रतिबन्धों का अभाव है जो सामाजिक अवस्थाएं आधुनिक सभ्यता के व्यक्ति की प्रसन्नता के लिए अनिवार्य समझी जाती हैं।''2

सकारात्मक स्वतन्त्रता का अर्थ
(MEANING OF POSITIVE LIBERTY)

सकारात्मक स्वतन्त्रता का साधारण अर्थ ऐसी अवस्थाओं का अस्तित्व है जो व्यक्ति के सर्वोत्तम विकास के लिए अनिवार्य है। समाज में प्रचलित सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक प्रणाली के द्वारा ऐसी अवस्थाओं की व्यवस्था नहीं की जानी चाहिए जो व्यक्ति को अपना सर्वोत्तम विकास करने के मार्ग में बाधा बनती है। सकारात्मक स्वतन्त्रता के इस अर्थ की व्याख्या करते हुए लॉस्की ने कहा कि, "स्वतन्त्रता का अर्थ ऐसे वातावरण को उत्साहपूर्वक स्थिर रखना है, जिसमें व्यक्तियों को सर्वोत्तम विकास करने का अवसर प्राप्त होता है। स्वतन्त्रता एक सकारात्मक तथ्य है जिसका अर्थ केवल प्रतिबन्धों का अभाव नहीं है।"[1]

सकारात्मक स्वतन्त्रता के अर्थों की व्याख्या करते हुए **लॉस्की** ने एक और स्थान पर कहा है कि, "स्वतन्त्रता से मेरा अभिप्राय

... ... have ... the opportunity to be their bestselves ....

उन सामाजिक अवस्थाओं पर प्रतिबन्धों का अभाव है जो आधुनिक सभ्यता में व्यक्ति की खुशी के लिए अनिवार्य समझी जाती है।"[1]

टी० एच० ग्रीन के अनुसार, "स्वतन्त्रता का अभिप्राय करने योग्य कार्यों को करने तथा भोगने योग्य वस्तुओं को भोगने की सकारात्मक शक्ति है।"[2]

मैकिन्नी के विचारानुसार, "स्वतन्त्रता का अर्थ प्रत्येक प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव नहीं है वरन् अनुचित प्रतिबन्धों के स्थान पर उचित प्रतिबन्धों की स्थापना है।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाओं से सकारात्मक स्वतन्त्रता का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। सकारात्मक स्वतन्त्रता का अभिप्राय ऐसी उचित अवस्थाओं का होना है जो मानवीय प्रसन्नता और मनुष्य के सर्वोत्तम विकास के लिए अनिवार्य है। सकारात्मक स्वतन्त्रता का दूसरा अर्थ अनुचित प्रतिबन्धों का अभाव है।

सकारात्मक स्वतन्त्रता की विशेषताएं
(CHARACTERISTICS OF POSITIVE LIBERTY)

सकारात्मक स्वतन्त्रता की कुछ मुख्य विशेषताएं ये हैं —

1. स्वतन्त्रता का अर्थ केवल प्रतिबन्धों का अभाव नहीं है (Liberty is not merely the Absence of Restraints)—नकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा प्रतिबन्धों के अभाव को स्वतन्त्रता का एक अंग मानती है। परन्तु सकारात्मक स्वतन्त्रता के समर्थक केवल प्रतिबन्धों के अभाव को ही स्वतन्त्रता का नाम नहीं देते। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कांट (Kant) ने कहा था कि मानवीय व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं— उच्च पक्ष और निम्न पक्ष। जब व्यक्ति अपनी भावनात्मक आवश्यकताओं या अमानवीय रुचियों को सन्तुष्ट करने के लिए प्रतिबन्धों का विरोध करता है तो व्यक्ति अपने व्यक्ति के घटिया पक्ष की अभिव्यक्ति कर रहा होता है। ऐसे व्यक्ति को स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं कहा जा सकता है। स्वतन्त्र व्यक्ति तो वह होगा जो उच्च स्तर की तर्कशीलता के अनुसार व्यवहार करता है। इस विचार का साधारण अर्थ यह है कि तर्कशील या उचित प्रतिबन्धों का अभाव स्वतन्त्रता की अपेक्षा नहीं है। मनुष्य समाज में रहता है। ऐसे मनुष्य को बन्धनरहित स्वतन्त्रता प्रदान करने का अभिप्राय संगठित सामाजिक जीवन को नष्ट करना होगा। इस विषय में लॉस्की ने कहा है कि, "स्वतन्त्रता में स्वाभाविक रूप में ही बन्धनों का अभाव है, मैं जिन भिन्न-भिन्न स्वतन्त्रताओं का प्रयोग करता हूं, उन स्वतन्त्रताओं का अभिप्राय अपने साथी की स्वतन्त्रताओं को नष्ट करना है।"[4]

2. अधिकार स्वतन्त्रता की अनिवार्य शर्तें हैं (Rights are the Essential Conditions of Liberty)—सकारात्मक स्वतन्त्रता के समर्थक अधिकार को स्वतन्त्रताओं की अनिवार्य शर्तें मानते हैं। **टी० एच० ग्रीन** के विचारानुसार, "मानवीय चेतनता स्वतन्त्रता की मांग करती है, स्वतन्त्रता में अधिकार सम्मिलित हैं और अधिकार स्वतन्त्रता की मांग करते हैं।"[5]

स्वतन्त्रता के अधिकारों के सम्बन्ध को दर्शाते हुए **लॉस्की** ने भी कहा है कि, "स्वतन्त्रता अधिकारों की उपज है............ अधिकारों के बिना स्वतन्त्रता का अस्तित्व नहीं हो सकता क्योंकि अधिकारों के बिना मनुष्य ऐसे कानून के अधीन होगा जिसका मानवीय व्यक्तित्व की आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं होगा।"[6]

3. सकारात्मक स्वतन्त्रता का अर्थ बाधाओं को दूर करना है (Positive Liberty signifies Removal of Constraints)—व्यक्ति के सर्वोत्तम विकास के मार्ग में कुछ ऐसी बाधाएं होती हैं जो समाज की आर्थिक या राजनीतिक या सामाजिक प्रणाली का परिणाम होती हैं। ऐसी बाधाओं को मानवीय प्रयत्न द्वारा दूर किया जा सकता है। यदि व्यक्ति अपना सर्वोत्तम विकास ऐसी बाधाओं के अस्तित्व के कारण नहीं कर सकता तो इसका अर्थ यह होगा कि उस समाज में स्वतन्त्रता नहीं है। **बेन और पीटर्ज़** (Benn & Peters) का विचार है कि, ''यदि शिक्षा बहुत महंगी है और माता-पिता बहुत निर्धन हैं तो फिर यह कहना केवल एक व्यंग्य होगा कि व्यक्ति को अपने बच्चों को पढ़ाने की स्वतन्त्रता है। जो कुछ लोग करना चाहते हैं उनके मार्ग में से बाधा दूर करना स्वतन्त्रता का विस्तार है। ''[1]

अपने इस विचार की ओर व्याख्या करते हुए **बेन और पीटर्ज़** ने कहा है कि, ''लंगड़े को कृत्रिम टांग, एक अज्ञानी व्यक्ति को शिक्षा और एक बेरोजगार शक्ति को नौकरी देना स्वतन्त्रता के सकारात्मक विस्तार हैं।''[2]

4. सकारात्मक स्वतन्त्रता अयोग्यताओं को स्वीकार करती है (Positive Liberty recognises National Incapacities)—बाधाओं को दूर करना सकारात्मक राज्य का कार्य है और सकारात्मक स्वतन्त्रता के लिए बाधाओं को दूर किया जाना आवश्यक है। परन्तु कुछ ऐसी प्राकृतिक बाधाएं या अयोग्यताएं हो सकती हैं जिनके कारण व्यक्ति अपनी प्रसन्नता की प्राप्ति या सर्वोत्तम विकास ना कर सकता हो। उदाहरणस्वरूप यदि व्यक्ति शारीरिक या मानसिक रूप से कमज़ोर है या कुछ व्यक्तियों का रंग बहुत काला और कुछ व्यक्तियों का बहुत गोरा है तो व्यक्ति की ऐसी प्राकृतिक अयोग्यताओं का अस्तित्व सकारात्मक स्वतन्त्रता की अवहेलना नहीं है। परन्तु यदि कोई सरकार रंग-भेद की नीति के आधार पर काले लोगों को यह अधिकार नहीं देती जो सभी गोरे लोगों को दिए गए हैं तो ऐसी अवस्थाएं सकारात्मक स्वतन्त्रता के अनुकूल नहीं हैं। संक्षेप में, सकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा का अभिप्राय उन बाधाओं या अयोग्यताओं को दूर करना नहीं है जो प्रकृति की देन हैं वरन् इसका अभिप्राय ऐसी बाधाओं को दूर करना है जो मनुष्य द्वारा स्थापित की गई सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक प्रणाली की देन हैं।

5. सकारात्मक स्वतन्त्रता अवसरों की प्राप्ति से सम्बन्धित है (Positive Liberty is associated with Availability of Opportunities)—सकारात्मक स्वतन्त्रता के लिए योग्य अवसरों और अनिवार्य अवस्थाओं की प्राप्ति अनिवार्य है। कोई गुणवान् व्यक्ति अधिक-से-अधिक शिक्षा प्राप्त करना चाहता है। ऐसे व्यक्ति के लिए शिक्षा प्राप्त करने की अनिवार्य सुविधाएं उपलब्ध होनी अनिवार्य हैं। कोई व्यक्ति राजनीति में प्रवेश करना चाहता है। ऐसे व्यक्ति के लिए राजनीति में प्रवेश करने के योग्य अवसरों का प्रबन्ध होना अनिवार्य है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि सकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा यह माँग करती है कि व्यक्ति की पूर्णतया स्वतन्त्रता तभी होगी जब इसको इच्छाओं और योग्यताओं के अनुसार आवश्यक अवसर उपलब्ध होंगे। यदि संविधान में शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार की व्यवस्था हो, परन्तु राज्य द्वारा अनिवार्य शिक्षा संस्थाएं स्थापित न की जाएं तो संविधान में अंकित उस अधिकार का कोई लाभ नहीं हो सकता है। योग्य अवसरों की प्राप्ति के बिना ऐसी स्वतन्त्रता का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं होगा।

6. सकारात्मक स्वतन्त्रता का अभिप्राय विशेषाधिकारों का अभाव है (Positive liberty implies the Absence of Special Privileges)—सकारात्मक स्वतन्त्रता ऐसी व्यवस्था में ही सम्भव हो सकती है जहां सभी को समान अधिकार प्राप्त हैं और व्यक्तियों की किसी विशेष श्रेणी को कोई विशेषाधिकार नहीं दिए गये हैं। लॉस्की के कथनानुसार, ''विशेषाधिकार स्वतन्त्रता के अनुकूल नहीं है, क्योंकि स्वतन्त्रता सभी मनुष्यों के समान रूप से सम्बन्धित है।''[3] जिस समाज में कुछ लोगों के विशेषाधिकारों का अस्तित्व होगा या जहां कहीं भी किसी भी आधार पर मनुष्य के पक्ष में या विपक्ष में भेदभाव किया जाएगा वहां सकारात्मक स्वतन्त्रता का अस्तित्व सम्भव नहीं होगा।

7. सकारात्मक स्वतन्त्रता समाज में रहने वाले व्यक्ति की स्वतन्त्रता है (Positive Liberty is the Liberty of a Man is Society)—निषेधात्मक स्वतन्त्रता के व्याख्याकारों ने स्वार्थी, अहंवादी और समाज से असम्बद्ध व्यक्ति (alienated individual) की स्वतन्त्रता की बात की थी। परन्तु सकारात्मक स्वतन्त्रता के व्याख्याकारों ने स्पष्टत: कहा है कि स्वतन्त्रता समाज में ही सम्भव नहीं हो सकती और समाज के सामूहिक हित के विरुद्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं है। सकारात्मक

स्वतन्त्रता मुख्यत: अधिकारों से सम्बन्धित है। व्यक्ति को अधिकार न तो समाज से बाहर और नहीं समाज के विरुद्ध प्राप्त हो सकता है। सकारात्मक स्वतन्त्रता के समर्थक प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं क्योंकि उनके मत में स्वतन्त्रता प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में नहीं वरन् समाज में ही सम्भव हो सकती है।

8. राज्य स्वतन्त्रता का शत्रु नहीं है (State is not an Enemy of Liberty)—नकारात्मक स्वतन्त्रता के व्याख्याता राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शत्रु माना था। परन्तु सकारात्मक स्वतन्त्रता के व्याख्याकार इस विचार का खण्डन करते [illegible] अधिकारों से ही जाना जाता है। इसका अर्थ यह [illegible] लॉस्की ने तो यहाँ तक कहा कि एक राज्य उसके द्वारा स्थापित किए गए अधिकारों से ही जाना जाता है [illegible] कि राज्य की योग्यता पहचान उन सामाजिक अवस्थाओं की प्राप्ति से की जाएगी जो सामाजिक अवस्थाएं [illegible] विकास के लिए आवश्यक हैं। सकारात्मक स्वतन्त्रता वास्तव में नियमित स्वतन्त्रता (Regulated liberty) की [illegible] स्वतन्त्रता को नियमित करने का कार्य राज्य के अतिरिक्त किसी अन्य संस्था को नहीं सौंपा जा सकता है। इसलिए सकारात्मक स्वतन्त्रता के समर्थक स्वतन्त्रता को नियमित करने या मनुष्य के सर्वोत्तम विकास के लिए अनिवार्य अवस्थाएं विकसित करने [illegible] कार्य राज्य को अर्पित करते हैं।

आलोचना (Criticism)—सकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा निस्सन्देह सकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा में महत्त्वपूर्ण [illegible] करती है। वर्तमान युग के उदारवादी प्रजातन्त्रीय राज्य में स्वतन्त्रता की यह धारणा ही प्रचलित है। परन्तु इसके अतिरिक्त [illegible] धारणा की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गई है—

1. सामाजिक-आर्थिक अवस्थाएं विकसित करने के लिए राज्य उचित संस्था नहीं है (State is not Proper Agency to create Socio-economic conditions)—मार्क्सवादी विचारधारा के समर्थकों का यह विचार है कि राज्य [illegible] वर्ग संगठन है। यह तो आर्थिक पक्ष से प्रमुख वर्ग का एक ऐसा साधन है जो श्रमिकों का शोषण करने में उस वर्ग की सहायता करता है। ऐसा राज्य सभी व्यक्तियों के विकास के लिए अनिवार्य ही सहायता करता है। ऐसा राज्य सभी व्यक्तियों के विकास के लिए अनिवार्य सामाजिक-आर्थिक अवस्थाएं विकसित नहीं कर सकता। राज्य तो शासक वर्ग के हितों में ही कार्य करेगा। जो का[illegible] सामाजिक कल्याण के नाम से किए जाते हैं, उन कार्यों के पीछे भी शासक वर्ग के हित होते हैं। जो राज्य साधारण लोगों या श्रमिक की स्वतन्त्रता को किसी-न किसी रूप में दबाने का प्रयत्न करता है, ऐसे पूंजीवादी राज्य के द्वारा व्यक्तियों के सर्वोत्तम विकास के लिए अनिवार्य अवस्थाओं को विकसित करने की आशा करनी निरर्थक है।

2. वैयक्तिक सम्पत्ति की संस्था स्वतन्त्रता के अनुकूल नहीं है (The Institution of Private Property does not conform to Liberty)—समाजवादी चिन्तक वैयक्तिक सम्पत्ति को स्वतन्त्रता का विरोधी मानते हैं। उनके मतानुसार वैयक्तिक सम्पत्ति अन्याय, विषमता तथा शोषण का मूल आधार है। सकारात्मक स्वतन्त्रता के समर्थक वैयक्तिक सम्पत्ति को [illegible] रखना चाहते हैं। ऐसी परिस्थिति में वास्तविक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं हो सकती है। वैयक्तिक सम्पत्ति समाज को विरोधी वर्गों में बांटती है। ऐसे वर्गों वाले समाज में सकारात्मक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं हो सकती।

3. प्रजातन्त्रीय सरकार कोई विश्वसनीय गारंटी नहीं है (Democratic Government is no sure Guarantee)—कुछेक विद्वानों का विचार है कि उदारवादी प्रजातन्त्रीय प्रणाली की स्वतन्त्रता की विश्वसनीय गारंटी नहीं हो सकती है। [illegible] प्रणाली में बहुमत की वास्तविक अधिनायकवाद होती है। बहुमत के हाथ में शासन सत्ता होती है और शासक दल अपने दलीय हितों के लिए शासन का प्रयोग करता है। जिस सरकार का निर्माण दल-राजनीति पर होता है वहां सरकार सभी लोगों के सर्वोत्तम विकास के लिए अनिवार्य अवस्थाएं विकसित नहीं कर सकतीं।

निष्कर्ष (Conclusion)—यह सही है कि मार्क्सवादी चिन्तकों ने सकारात्मक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की आलोचना की है परन्तु ऐसी आलोचना का कोई हल नहीं है क्योंकि राज्य के अतिरिक्त किसी अन्य संस्था को नियमित करने और स्वतन्त्रता के लिए अनिवार्य अवस्थाएं विकसित करने का कार्य किसी अन्य संस्था को नहीं दिया जा सकता। समाजवादी राज्यों में भी स्वतन्त्रता को नियमित करने का कार्य राज्य को नहीं समर्पित किया गया। यह भी विचार स्वीकार नहीं किया जाता कि राज्य एक वर्ग संगठन है। आधुनिक कल्याणकारी राज्य ने मार्क्सवाद की इस धारणा का पर्याप्त सीमा तक खण्डन किया है। सकारात्मक स्वतन्त्रता केवल उदारवादी सकारात्मक राज्य में ही सम्भव हो सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि स्वतन्त्रता को विश्वसनीय बनाने के लिए सुरक्षा-कवचों (Safeguards) का प्रबन्ध किया जाए। ऐसे प्रबन्धों में स्वतन्त्र न्यायपालिका, कानून का शासन, शक्तियों का विकेन्द्रीकरण, स्वतन्त्र और ईमानदार प्रेस आदि का होना बहुत आवश्यक है। उदारवादी प्रजातन्त्रीय प्रणाली के यद्यपि कुछ दोष हैं तथापि इन दोषों के अतिरिक्त भी स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए प्रजातन्त्रीय प्रणाली ही उचित प्रणाली है।

स्वतन्त्रता का मार्क्सवादी सिद्धान्त
(MARXIAN THEORY OF LIBERTY OR FREEDOM)

स्वतन्त्रता के विषय में मार्क्सवादी सिद्धान्त मूल रूप में उदारवादी सिद्धान्त के विपरीत है। 17वीं शताब्दी में उदारवाद (Liberalism) की विचारधारा का जन्म हुआ था। इस विचारधारा ने मुख्यतः व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बल दिया था। इस विचारधारा के चिन्तकों ने व्यक्ति के लिए राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्र में विशेषतः स्वतन्त्रता पर बल दिया था। इसके साथ इस विचारधारा ने पूंजीवादी प्रणाली का समर्थन किया था। उदारवादी चिन्तकों ने जिस व्यक्ति की स्वतन्त्रता का बलशाली समर्थन किया था, उनकी दृष्टि में वह व्यक्ति समाज से अलग, वैयक्तिकवादी और स्वार्थी व्यक्ति था। व्यक्ति और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विषय में उनकी धारणा ने जिस पूंजीवादी प्रणाली को स्थापित करने में योगदान दिया, वह पूंजीवादी प्रणाली श्रमिकों एवं मजदूरों के लिए निर्धनता, बेरोजगारी, दमन और शोषण का साधन सिद्ध हुई। कार्ल मार्क्स और ऐंजल्स ने ऐसी प्रणाली को मानवता विहीन और मानवता विरोधी बताया है। उन्होंने जहां इस मानवता विहीन प्रणाली का विरोध किया वहां स्पष्ट रूप में यह विचार भी प्रस्तुत किया कि ऐसी पूंजीवादी प्रणाली में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अस्तित्व नहीं हो सकता। मार्क्स और उसके सिद्धान्त के समर्थकों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विषय में जो विचार प्रस्तुत किए, वे मुख्यतः मार्क्सवादी मानववाद (Marxian Humanism) से सम्बद्ध हैं। अन्य शब्दों में, स्वतन्त्रता के विषय में मार्क्सवादी सिद्धान्त व्यक्ति की वास्तविकता, मानव-जीवन के उद्देश्य, मानवीय मूल्यों, मानवीय सर्वोत्तम विकास आदि की धारणाओं से सम्बद्ध है। स्वतन्त्रता के विषय में मार्क्सवादी सिद्धान्त की सर्वोन्मुखी व्याख्या निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है—

1. बुर्जुआ समाज मनुष्य को मानवताहीन बनाता है (Bourgeoise Society dehumanises man)—कार्ल मार्क्स ने बुर्जुआ समाज के इस विषय में कठोर आलोचना की है कि ऐसा समाज मनुष्य को मानवताहीन बनाता है। 1843 में प्रकाशित हुए अपने एक लेख (On the Jawish Question) में मार्क्स ने यह कहा था कि बुर्जुआ समाज में राजनीतिक स्वतन्त्रता पर बल दिया जाता है, परन्तु राजनीतिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं है। मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता पूंजीवादी समाज में प्राप्त नहीं की जा सकती क्योंकि ऐसे समाज में वैयक्तिक सम्पत्ति की संख्या अनेक बुराइयों को जन्म देती है। वैयक्तिक सम्पत्ति पर आधारित समाज में मनुष्य स्वयं से भी अलग होकर रह कर जाता है। वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रणाली मनुष्य में से मानवता और मानवीय वास्तविकता को समाप्त कर देती है। पूंजीवादी समाज में वास्तविक मनुष्य का अस्तित्व नहीं है। ऐसे समाज में दास ही रहते हैं। पूंजीपति सम्पत्ति और पूंजी के पास होते हैं जबकि श्रमिक और मजदूर अपनी आवश्यकताओं और भौतिक कमियों के दास बने हुए होते हैं। पूंजीवादी समाज में मनुष्य मानवताहीन हो जाता है और ऐसी अवस्था में मनुष्य की स्वतन्त्रता केवल एक ढोंग बन जाती है। मार्क्स के अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति मानवता और स्वतन्त्रता की शत्रु है और वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रणाली पर आधारित पूंजीवादी समाज में मानवीय स्वतन्त्रता की वास्तविकता का अंश मात्र भी नहीं मिलता है।

2. मनुष्य का अलगाववाद (Alienation of Man)—कार्ल मार्क्स ने पूंजीवादी समाज में मनुष्य को अलगाववाद का सिद्धान्त दिया है। अपनी एक प्रसिद्ध रचना 'Economic and Philosophic Manuscripts' में मार्क्स ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पूंजीवादी प्रणाली ने मनुष्य की उत्पादकी एवं रचनात्मक शक्ति को कुरूप कर दिया है। पूंजीवादी प्रणाली ने जहां मनुष्य को मानवताहीन बनाया है वहां यह प्रणाली मनुष्य के अलगाव (Alienation) के लिए भी उत्तरदायी है। मार्क्स ने मनुष्य के अलगाव निम्नलिखित चार पहलू बताए हैं—

(i) पहले, मनुष्य अपने काम की प्रक्रिया और उत्पादन से अलग हुआ है। इसका कारण यह है कि पूंजीवादी प्रणाली में श्रमिक की इस बात का निर्णय करने में कोई भूमिका नहीं होती कि कौन-सी वस्तु का उत्पादन किया जाए और उत्पादन कैसे किया जाए।

(ii) दूसरे, मनुष्य अपने प्राकृतिक स्वभाव से अलग हुआ है जोकि उसका काम उसकी रचनात्मक रुचि (Creative Instinct) को सन्तुष्ट नहीं करता। श्रमिक को जीविकोपार्जन के लिए नीरस वातावरण में मशीन की भान्ति कार्य करना पड़ता है।

(iii) तीसरे, मनुष्य अपने सहचर्यों से अलग हुआ है कि क्योंकि पूंजीवादी समाज में मुक्त प्रतियोगिता की नीति प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वार्थ तक ही सीमित कर देती है। ऐसे समाज में परस्पर विरोधी हितों वाले वर्गों का अस्तित्व व्यक्ति से अलग रखता है।

(iv) चौथे, मनुष्य स्वयं से अलग हो जाता है क्योंकि आवश्यकता का तथ्य (Factor of Necessary) उस पर हावी होता है और उसे पशु-स्तर पर जीने के लिए विवश करता है। ऐसे व्यक्ति में साहित्य, कला, संगीत, संस्कृति आदि के लिए कोई लगन नहीं रह जाती। मार्क्स के अनुसार जहां व्यक्ति का अनेक पहलुओं में अलगाव का तथ्य हावी होगा वहां व्यक्ति को वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती।

3. बुर्जुआ समाज में कोई वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं होती (No real freedom in Bourgeoise Society)—मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी ऐसी अवस्था विकसित करता है जो व्यक्ति की मानवीय रुचियों या प्रवृत्तियों को भी भौतिक अवस्थाओं का दास बना देती है। यह तथ्य केवल श्रमिकों पर ही लागू नहीं होता, अपितु पूंजीपति स्वयं भी पूंजी और सम्पत्ति के दास बन कर रह जाते हैं और मानवता के गुण उनके व्यक्तित्व में भी नहीं होते। मार्क्स का यह विचार है कि मनुष्य में रचनात्मक रुचियां होती हैं। ऐसी रुचियों के फलस्वरूप मनुष्य स्वविकास और स्वप्राप्ति करने के योग्य होता है। ऐसी रचनात्मक रुचियां ही मनुष्य की स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति करती हैं और मनुष्य समाज को भी अपना योगदान देते हैं। परन्तु पूंजीवादी समाज में मनुष्य की ऐसी रुचियां नष्ट हो जाती हैं क्योंकि मनुष्य सम्पत्ति पूंजी या भौतिक आवश्यकताओं का दास बन कर रह जाता है। जब मनुष्य मानवताहीन हो जाए, जब उसे अपनी वास्तविकता या अपने जीवन का उद्देश्य ही भूल जाए तो मनुष्य के नैतिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व के विकास का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता मार्क्सवाद मनुष्य नैतिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व के विकास को स्वतन्त्रता का मूल तत्त्व मानता है। मार्क्सवाद के अनुसार स्वतन्त्रता की आवश्यकता ही इसलिए है कि मनुष्य मनुष्य के रूप में या नैतिक एवं सामाजिक जीव के रूप में आत्म प्राप्ति या अपना सर्वोत्तम विकास कर सके जिस समाज में मनुष्य यह नहीं कर सकता वहां स्वतन्त्रता का अस्तित्व नहीं हो सकता। मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार पूंजीवादी समाज में पूंजीपति और श्रमिक जो कुछ प्राप्त करना चाहते हैं, वह स्वतन्त्रता का तत्त्व नहीं है। पूंजीपति को पूंजी और सम्पत्ति की आवश्यकता है जबकि श्रमिक भौतिक आवश्यकताओं की कमी का शिकार है। ऐसी अवस्था में किसी को भी वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती क्योंकि पूंजीवादी समाज मनुष्य को वह कुछ नहीं देता जो उसकी आत्म प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

4. मनुष्य की वास्तविकता (Essence of Man)—स्वतन्त्रता की धारणा के विषय में मार्क्सवादी सिद्धान्त ने एक बड़ी रोचक धारणा दी है। स्वतन्त्रता का सम्बन्ध मनुष्य से है और स्वतन्त्रता के विषय में पूर्णतया तभी परिचित हुआ जा सकता है यदि मनुष्य की वास्तविकता का ज्ञान हो। मनुष्य के विषय में जो विचार प्रचलित हैं, मार्क्स ने उनका विश्लेषण करने के पश्चात् यह विचार दिया था कि मनुष्य एक स्व-रचनात्मक सामाजिक जीव है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य समाज से अलग नहीं है। मनुष्य की वास्तविकता उसके शारीरिक गुणों में नहीं अपितु उसके सामाजिक गुणों (Social quality) में है। मनुष्य एक सामाजिक जीव है और समाज से अलग उसका अध्ययन नहीं किया जा सकता। मानवीय वास्तविकता का महत्त्व केवल सामाजिक प्रसंग में ही है। मानवीय व्यक्तित्व का विशेष गुण उसका स्व-रचनात्मक सामाजिक प्रकृति (Self-creative social instinct) है। मार्क्स के अनुसार, स्वार्थी या वैयक्तिवादी और समाज से अलग व्यक्ति की धारणा केवल एक कल्पना मात्र ही है। मार्क्स के अनुसार मानवता, मानवीय व्यक्तित्व, मानवीय ज्ञान और मानवीय मूल्य समाज और सामाजिक सम्बन्धों की उपज हैं। यह सब कुछ मनुष्य को अपने साथियों के सहयोग और परस्पर प्रेम से ही प्राप्त होते हैं। संक्षेप में, मार्क्सवाद के अनुसार सामाजिक सम्बन्ध मनुष्य की स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करते, अपितु सामाजिक सम्बन्धों की पूर्णता (Totality of the social relations) ही मनुष्य की वास्तविकता है। मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार यदि सामाजिक सम्बन्ध मनुष्य की स्वतन्त्रता को सीमित करते हैं तो फिर पशु जगत में ही स्वतन्त्रता सम्भव होगी क्योंकि पशुओं के लिए कोई सामाजिक प्रतिबन्ध नहीं होते।

5. मनुष्य का उद्देश्य और मूल्य (Purpose and Values of Man)—स्वतन्त्रता के विषय में मार्क्सवादी सिद्धान्त जहां
मानवीय स्वभाव और मनुष्य की वास्तविकता से सम्बद्ध है, वहां मानव जीवन के उद्देश्य और मानवीय मूल्यों से भी स्वतन्त्रता की
मार्क्सवादी धारणा का अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। मार्क्स ने व्यक्तिगत प्रसन्नता या जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति या आध्यात्मिकता
की प्राप्ति को मानव जीवन का उद्देश्य नहीं माना है। मार्क्सवादी विचार के अनुसार मनुष्य में रचनात्मक शक्ति है। ऐसी रचनात्मक
शक्ति को समाज और समाज के सदस्यों के स्वतन्त्र सर्वोन्मुखी के लिए लगाना मानव-जीवन का उद्देश्य है। यदि आत्म कल्याण
और स्वार्थी हित ही मानव-समाज का उद्देश्य हो तो यह उद्देश्य मनुष्य की वास्तविकता से विपरीत होगा। मनुष्य अपनी प्रसन्नता
और अपने विकास को सामाजिक प्रसन्नता और सामाजिक विकास से अलग नहीं कर सकता। पूंजीवादी समाज में मानवीय जीवन
का कोई उचित उद्देश्य नहीं है क्योंकि मनुष्य पूंजी या सम्पत्ति के लिए ही प्रयत्न करता है और उसके ऐसे प्रयत्न मनुष्य की
वास्तविकता के अनुकूल नहीं हैं। मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति तभी स्वतन्त्र होगा यदि वह अपनी वास्तविकता के
अनुकूल अपनी रचनात्मक शक्ति के द्वारा समाज के विकास के लिए प्रयत्न करता है क्योंकि मार्क्सवादी सिद्धान्त समाज के सभी
सदस्यों के सर्वोन्मुखी स्वतन्त्र विकास को प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मूल आधार मानता है। मार्क्सवाद मनुष्य के सामाजिक
गुण, उसकी रचनात्मक शक्ति, उसके श्रम और सामाजिक कल्याण के लिए उसकी भावनाओं को ही मानवीय मूल्यों (Human
values) मानता है। ऐसे मानवीय मूल्य ही मनुष्य को स्वतन्त्र बना सकते हैं।

6. स्वतन्त्रता का अर्थ (Meaning of Freedom)—मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार स्वतन्त्रता मूल रूप में मानवीय
स्वभाव, मानवीय वास्तविकता, मानवीय जीवन के उद्देश्य और मानवीय मूल्यों से सम्बन्धित है। मार्क्सवाद प्रतिबन्धों के अभाव
(Absence of restraints) को स्वतन्त्रता का नाम नहीं देता है। मार्क्सवाद यह भी स्वीकार नहीं करता है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता
तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता सर्वोच्च आदर्शों और अन्य स्वतन्त्रताएं इन पर आधारित हैं। मार्क्सवादी सिद्धान्त स्वतन्त्रता की व्याख्या
मनुष्य की वास्तविकता और मानवीय जीवन के उद्देश्य के प्रसंग में करता है। स्वतन्त्रता के विषय में मार्क्सवादी विचार की व्याख्या
करते हुए हबरमैन और सवीजी (Huberman and Sweezy) ने कहा है कि, "स्वतन्त्रता का अर्थ जीवन को पूर्णता तक जीना
है। इसलिए भोजन, कपड़े और आवास की शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करने की आर्थिक योग्यता, मन और साधन,
व्यक्तित्व का विकास और व्यक्तित्व को स्थिर रखने का प्रभावशाली अवसर शामिल है।"[1]

एक ओर विद्वान् पैटरोसाइन (Petrosyn) ने भी स्वतन्त्रता के विषय में मार्क्सवादी अर्थों की व्याख्या करते हुए कहा है कि,
"मार्क्स के स्वतन्त्रता के विषय में विचार का अभिप्राय ऐसी गतिविधि से है जिसका उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रफुल्लित
करने और उसके स्वतन्त्र सर्वोन्मुखी विकास के लिए अनिवार्य वास्तविक अवस्थाएं पैदा करना है।"[2]

यहां यह वर्णनीय है कि मनुष्य के जिस व्यक्तित्व के विकास पर मार्क्सवादी विचार ने बल दिया है वह व्यक्तित्व असामाजिक
(asocial) नहीं है वरन् समाज में रह कर ही ऐसे व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है। मार्क्सवादी विचारानुसार एक पूर्ण मनुष्य
का विकास स्वतन्त्रता में ही हो सकता है और स्वतन्त्र समाज में रहकर ऐसे व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है। मार्क्सवादी
विचारानुसार, "एक पूर्ण मनुष्य का विकास स्वतन्त्रता में ही हो सकता है और स्वतन्त्र समाज के बिना सच्ची स्वतन्त्रता की कल्पना
भी नहीं की जा सकती।"[3]

संक्षेप में, मार्क्सवादी सिद्धान्तानुसार समाज में ही जीवन का सर्वोन्मुखी स्वतन्त्र विकास ही स्वतन्त्रता का सारांश है। इस प्रकार
मार्क्सवादी सिद्धान्त वैयक्तिक या राजनीतिक स्वतन्त्रता को कोई महत्त्व नहीं देता, वरन् मनुष्य की रचनात्मक रुचियों के स्वतन्त्र
और सर्वोन्मुखी विकास को ही स्वतन्त्रता का नाम देता है।

7. स्वतन्त्रता का मार्क्सवादी सिद्धान्त समानता से सम्बन्धित है (Marxian concept of Freedom is linked with
equality)—ऐंजल्स (Engels) ने कहा था कि, "यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र किए बिना
समाज स्वतन्त्र नहीं हो सकता।"[4]

ऐंजल्स के इस कथन का संकेत पूंजीवादी समाज में व्यक्ति को स्वतन्त्र करने से है। जिस समाज में वैयक्तिक सम्पत्ति की

प्रणाली होगी, वहाँ न तो समानता और न ही स्वतन्त्रता हो सकती है। मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार, स्वतन्त्रता निरपेक्ष
वैयक्तिक सम्पत्ति को समाप्त करने और उत्पादन के साधनों को सामाजिक स्वामित्व के अधीन करने से सम्बन्धित है। शोषण
स्वतन्त्रता व्यक्ति की स्वतन्त्रता की प्रथम शर्त है। यदि किसी समाज में सम्पत्ति के स्वामियों के द्वारा साधारण लोगों के भारी बहुमत
का शोषण होता रहेगा तो उस समाज में न तो स्वतन्त्र व्यक्ति हो सकता है और न ही वह समाज स्वतन्त्र हो सकता है। मार्क्सवादी
सिद्धान्त के अनुसार, बुर्जुआ समाज में प्रचलित स्वतन्त्रताओं का स्वरूप वर्गशाली या श्रेणीशाली होता है। ऐसे समाज में
पूंजीपतियों की श्रेणी को स्वार्थी हितों में श्रमिकों का शोषण करने की स्वतन्त्रता और श्रमिकों की स्वतन्त्रता ऐसा शोषण करवाने
में ही होती है। संक्षेप में, मार्क्सवादी सिद्धान्त का यह मत है कि वैयक्तिक सम्पत्ति को समाप्त किए बिना और उत्पादन के साधनों
का समाजीकरण किए बिना समाज में आर्थिक विषमताएं समाप्त नहीं हो सकतीं और जहां मनुष्य की वास्तविकता को समाप्त
करने वाली आर्थिक या सामाजिक या राजनीतिक विषमताएं होंगी वहां वास्तविक स्वतन्त्रता का अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता।

8. वैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता स्वतन्त्रता की एक शर्त है (Scientific knowledge is a condition of
Freedom)—स्वतन्त्रता के विषय में मार्क्सवाद ने एक और बड़ा रोचक विचार प्रस्तुत किया है। मार्क्सवाद के अनुसार, इस
संसार में कुछ ऐसे यथार्थक नियम या कानून (Objective Laws) प्रचलित हैं जिन पर मानवीय इच्छा का कोई भी नियन्त्रण नहीं
है। यह यथार्थक नियम मानवीय नियन्त्रण से स्वतन्त्र है और उन्होंने निश्चय ही अपनी विशेषताओं की अभिव्यक्ति करनी है।
उदाहरणार्थ पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का नियम है। इस नियम को मानवीय प्रयत्न भी नहीं बदल सकते। प्रकृति और समाज
के अनेकों ऐसे नियम हैं जिन्होंने अपने निश्चित मार्ग पर चलना ही है और मानवीय प्रयत्न उन नियमों को बदलने के योग्य नहीं
हैं। ऐसे यथार्थक नियमों को मार्क्सवादी सिद्धान्त 'आवश्यकता' (Necessity) का नाम देते हैं। ऐसी आवश्यकता के वैज्ञानिक ज्ञान
को मार्क्स ने स्वतन्त्रता की अनिवार्य शर्त बताया है। मार्क्स का यह मत है कि यदि हम प्रकृति और समाज के ऐसे यथार्थक नियमों
को समझे बिना ही इस संसार में रह रहे हैं तो हम 'अन्ध आवश्यकता' (Blind Necessity) के दास हैं। यदि हम इन यथार्थक
नियमों की वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त कर लेंगे तो हम 'अन्ध' आवश्यकता के स्वामी होंगे। मार्क्स के इस विचार का सारांश यह है
कि समाज और प्रकृति के कुछ ऐसे यथार्थक नियम हैं जो मानवीय जीवन को प्रभावित करते हैं परन्तु मानवीय इच्छा और मानवीय
प्रयत्नों से स्वतन्त्र हैं। ऐसे नियमों को समझे बिना उनके अधीन रहना या उनके प्रभावों को स्वीकार करना दासता है और उन
यथार्थक नियमों या तथ्यों के प्रति वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करना स्वतन्त्रता की आवश्यक शर्त है। ऐसा ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही
व्यक्ति उन यथार्थक नियमों के विषय में कोई कार्य कर सकता है।

9. स्वतन्त्र इच्छा का विचार अमान्य (Concept of free will refuted)—मार्क्सवादी सिद्धान्त स्वतन्त्र इच्छा के सिद्धान्त
को स्वीकार नहीं करता है। इस का यह मत है कि स्वतन्त्र इच्छा तभी वास्तविक हो सकती है यदि उसको कार्यान्वित किया जा
सकता हो। कोई व्यक्ति स्वतन्त्र तभी होगा यदि वह जो कुछ करना चाहता है उसे कर सके। काडवैल (Caudwell) ने इस
मार्क्सवादी विचार की व्याख्या करते हुए कहा है कि, "केवल इच्छा ही नहीं वरन् कार्य भी स्वतन्त्रता से सम्बन्धित हैं। प्रत्येक
अनुभव करता है कि बाह्य वातावरण हमारी स्वतन्त्रता को निरन्तर रूप में सीमित करता है। परन्तु ऐसी स्वतन्त्र इच्छा को तब तक
स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता जब तक यह सब कुछ नहीं करती जो कुछ इसकी इच्छा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सही
अर्थों में स्वतन्त्र होने के लिए हम वह सब कुछ करने योग्य हों जो कुछ हम करने की स्वतन्त्र इच्छा रखते हैं।"[1]

मार्क्सवाद के इस विचार का साधारण अर्थ यह है कि व्यक्ति स्वतन्त्र तभी होगा यदि उसे समाज और प्रकृति के ऐसे तथ्यों का
ज्ञान है जो उनकी स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधाएं हैं और व्यक्ति अपने उस ज्ञान के आधार पर उन बाधाओं को दूर करने के विषय
में वह कुछ कर सकने के लिए योग्य हो जो कुछ वह करना चाहता है।

10. स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए क्रान्तिकारी सामाजिक गतिविधि अनिवार्य (Revolutionary social activity is
needed to achieve freedom)—मार्क्सवाद आवश्यकताओं के विषय में वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने पर बल देता है। परन्तु इस
के साथ मार्क्सवाद का यह भी मत है कि ऐसे ज्ञान पर आधारित क्रान्तिकारी सामाजिक गतिविधि द्वारा ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती
है। ज्ञान द्वारा व्यक्ति को प्रकृति और समाज के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त हो सकती है। परन्तु क्रान्तिकारी सामाजिक गतिविधि
के बिना वह ज्ञान व्यर्थ है। इस विषय में ऐंजल्स ने कहा था कि, "ज्ञान यद्यपि बुर्जुआ आर्थिक विज्ञान से भी अधिक गहरा हो,
तथापि केवल ज्ञान द्वारा ऐसी शक्तियों को समाज की प्रमुखता के अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। इस विषय में सबसे अधिक
आवश्यक सामाजिक गतिविधि है।"[2]

1. "It is not will alone but ...

इस कथन का अभिप्राय यह है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए ऐसा सामाजिक परिवर्तन किया जाना आवश्यक है जो स्वतन्त्रता के मार्ग की बाधाओं को दूर करे और व्यक्ति को आत्म विकास और आत्मपूर्ति का अवसर प्रदान करे।

11. केवल स्वतन्त्र समाज में ही स्वतन्त्रता सम्भव है (Freedom is possible only in a free society)—मार्क्सवादी सिद्धान्त पूंजीवादी समाज को स्वतन्त्र समाज नहीं मानता है क्योंकि वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रणाली के कारण ऐसा समाज श्रेणियों में विभाजित होता है, मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार जब तक वैयक्तिक सम्पत्ति की दीवार मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करती रहेगी तब तक मनुष्य अपनी वास्तविकता और मानवीय मूल्यों के अनुसार स्वतन्त्र नहीं हो सकता है। मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार श्रेणीविहीन तथा राज्यविहीन समाज (Classless and Stateless Society) ही स्वतन्त्र समाज हो सकता है। ऐसे समाज में वैयक्तिक सम्पत्ति का अस्तित्व नहीं होगा और उत्पादन का उद्देश्य वैयक्तिक लाभ नहीं वरन् सामाजिक भलाई होगा। इस स्वतन्त्र समाज में मनुष्य को अपनी रचनात्मक प्रवृत्तियों को प्रफुल्लित करने के लिए योग्य अवसर प्राप्त होंगे। व्यक्ति भौतिक आवश्यकताओं का दास नहीं होगा और वह अपनी वास्तविकता के अनुकूल सर्वोन्मुखी विकास करने के योग्य होगा। श्रेणीविहीन तथा राज्यविहीन स्वतन्त्र समाज में व्यक्ति अपने जीवन को पूर्ण जीने के योग्य होगा और इस अवस्था को मार्क्सवादी सिद्धान्त स्वतन्त्रता का परिणाम मानता है।

स्वतन्त्रता के विषय में मार्क्सवादी सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Marxist concept of Freedom)—स्वतन्त्रता के विषय में मार्क्सवादी सिद्धान्त की साधारणतः निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गई है—

1. वैयक्तिक स्वतन्त्रता को कोई महत्त्व नहीं दिया गया (No importance to personal Liberty)—मार्क्सवादी सिद्धान्त ने मानवीय जीवन के किसी भी क्षेत्र को समाज से पृथक् नहीं किया है। यह सत्य है कि मनुष्य समाज में रहता है, परन्तु मनुष्य के जीवन का कुछ वैयक्तिक क्षेत्र भी है जिसका समाज से योग्य रूप में स्वतन्त्र होना अनिवार्य है। कुछ-एक आलोचकों ने मार्क्सवादी सिद्धान्त को स्वतन्त्रता का निश्चयवादी सिद्धान्त (Determinist theory of freedom) बताया है क्योंकि मार्क्सवादी सिद्धान्त ने व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा और सूत्रपात करने के लिए कोई क्षेत्र नहीं छोड़ा है।

2. वैयक्तिक सम्पत्ति की समाप्ति व्यक्ति की प्राकृतिक रुचि के अनुकूल नहीं है (Abolition of Private Property not in consonance with his natural instinct)—मनुष्य जहां सामाजिक जीव है वहां मनुष्य स्वार्थी भी है। अपने अधिकार के अन्तर्गत कुछ रखने की मनुष्य की प्राकृतिक रुचि है। मनुष्य में 'मेरे और तेरे की भावना' (Instinct of Mine and Thine) एक प्राकृतिक भावना है। इस भावना की पूर्ति के लिए मनुष्य अनन्त प्रयत्न करता है। वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा उस को अधिक-से-अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। यह प्रेरणा उसे अन्य लोगों से प्रतियोगिता करने के लिए प्रोत्साहित करती है। यह प्रोत्साहन देश की प्रगति में वृद्धि करता है। वैयक्तिक सम्पत्ति की समाप्ति मानवीय स्वभाव के अनुकूल नहीं है और इसको सर्वथा समाप्त करना कठिन नहीं वरन् असम्भव है।

3. जनसाधारण की धारणा नहीं (Not a common man's concept)—मार्क्सवादी सिद्धान्त ने जिस स्वतन्त्रता की चर्चा की है, वह स्वतन्त्रता जनसाधारण की धारणा नहीं है। मनुष्य की वास्तविकता (Essence) मानवीय जीवन का उद्देश्य और मानवीय मूल्यों की पेचीदा बातें जनसाधारण की समझ से बाहर हैं। यथार्थक नियमों का ज्ञान प्राप्त करने के विषय में जो मत मार्क्सवादी सिद्धान्त ने दिया है, वह मत जनसाधारण के लिए नहीं है। समस्त विश्व की व्यावहारिक सच्चाई यह है कि लोगों का भारी बहुमत 'अन्ध आवश्यकता' (Blind Necessity) की दासता के अन्तर्गत ही रहता है। बहुत कम व्यक्ति हो सकते हैं जिनमें प्रकृति व समाज के यथार्थक नियमों का ज्ञान प्राप्त करने की लगन हो। उनमें से ऐसे व्यक्तियों की संख्या और भी कम होगी जो प्रकृति व समाज के यथार्थक नियमों को समझने की योग्यता रखते हों।

4. बुर्जुआ समाज की सम्पूर्ण आलोचना उचित नहीं है (The criticism of Bourgeois society is not wholly ture)—यह सत्य है कि बुर्जुआ समाज में वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रणाली के कारण बेरोज़गारी, निर्धनता और मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण होता है। परन्तु यह कहना कि ऐसा समाज व्यक्ति को मानवताहीन बनाता है। सच्चाई के अनुकूल नहीं है। आधुनिक कल्याणकारी राज्य ने अनेक ही ऐसी सुविधाओं और अवस्थाओं का प्रबन्ध किया है। जो मनुष्य के नैतिक व सांस्कृतिक विकास के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होती हैं। यह बात मार्क्स और ऐंजल्स ने स्वयं भी स्वीकार की थी कि पूंजीवादी राज्यों में प्राप्त राजनीतिक अधिकारों में श्रमिकों को एकत्र होने, व्यापारिक संघ बनाने और उनमें वर्ग चेतना उत्पन्न करने के लिए उपयोगी भूमिका निभाई थी। सामाजिक और मानवीय भलाई के लिए जो कार्य आधुनिक कल्याणकारी राज्य द्वारा किए जाते हैं, वे कार्य मनुष्य में से मानवता को समाप्त नहीं करते वरन् मनुष्य को मानवता का विकास करने योग्य बनाते हैं।

स्वतन्त्रता के रक्षक
(SAFEGUARDS OF LIBERTY)
अथवा
स्वतन्त्रता की रक्षा किस प्रकार की जाती है ?
(HOW CAN LIBERTY BE SAFEGUARD ?)

आधुनिक राज्य में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाने के लिए निम्नलिखित रक्षा-कवचों (Safe-guards) की व्यव... होनी आवश्यक है—

1. प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली (Democratic Form of Government)—यह एक स्थापित सत्य है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर्याप्त सीमा तक सरकार के रूप पर निर्भर है। निरंकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy), कुलीनतन्त्र (Aristocra...

अधिनायकतन्त्र (Dictatorship) में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना असम्भव नहीं हो सकता क्योंकि ऐसी शासन प्रणालियों में व्यक्ति का जीवन ही शासकों की दया-दृष्टि पर निर्भर होता है। लोकतन्त्र में स्वतन्त्रता की स्वतन्त्रता का अधिक रूप में सुरक्षित होना इस कारण सम्भव हो जाता है। प्रजातन्त्र में क्योंकि जनता के अपने चुने हुए प्रतिनिधि ही समाज शासन का प्रबन्ध करते हैं और कानून का निर्माण करते हैं। इन प्रतिनिधियों द्वारा बनाये कानून व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं कर सकते और अप्रत्यक्ष रूप में जनता स्वयं ही उन कानूनों की निर्माता होती है। अपने बनाये कानूनों का पालन करने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट नहीं होती अपितु ऐसा करने से व्यक्ति गौरवान्वित अनुभव करता है।

2. मौलिक अधिकारों की घोषणा (Declaration of Fundamental Rights)—जनता की स्वतन्त्रता और रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि नागरिक के मौलिक अधिकारों का स्पष्ट रूप से संविधान में वर्णन हो ताकि व्यक्ति इन अधिकारों से पूर्ण लाभ उठा सके। मानवीय अधिकारों का केवल संविधान में ही वर्णन करना पर्याप्त नहीं है अपितु संवैधानिक उपचारों (Constitutional Remedies) द्वारा सरकार के अनुचित हस्तक्षेप से सुरक्षित रखना भी बहुत आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं होगा तो सरकार स्वेच्छा से व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करती रहेगी। इसी कारण भारत, संयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि देशों में मानवीय अधिकारों का वर्णन करने और उन्हें संविधान द्वारा सुरक्षित बनाने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को किसी प्रकार का कोई भय नहीं होता।

3. स्वतन्त्र न्यायपालिका (Independent Judiciary)—फ्रांसीसी विद्वान् मॉण्टेस्क्यू ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाने के लिए शक्तियों के पृथक्करण (Separation of Powers) के सिद्धान्त पर बल दिया था। इस सिद्धान्त से अभिप्राय यह है कि सरकार की तीन शक्तियाँ वैधानिक, कार्यकारी और न्यायिक (Legislative, Executive and Judicial) किसी एक व्यक्ति या संस्था में केन्द्रित नहीं होनी चाहिए बल्कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों या संस्थाओं में निहित होनी चाहिए।

शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त यद्यपि पूर्ण रूप में व्यावहारिक नहीं है। किन्तु इस सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए न्यायपालिका का विधानपालिका और कार्यपालिका के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होना बहुत आवश्यक है। एक निष्पक्ष और स्वतन्त्र न्यायपालिका ही विधानपालिका और कार्यपालिका के अत्याचारों से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकती है। यदि न्यायपालिका स्वतन्त्र नहीं होगी तो राजनीतिक दबाव के अधीन न्यायाधीश के लिए निर्भीकता और निष्पक्षता से न्याय करना बहुत कठिन होगा।

4. कानून का शासन (Rule of Law)—स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा तभी कर सकती है यदि किसी निरंकुश तानाशाह या सम्राट् के शासन की अपेक्षा कानून का शासन हो। 'कानून का शासन' से अभिप्राय है कि कानून सर्वोच्च है और शासन प्रबन्ध कानून के उपबन्धों के अनुसार ही चलाया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को कानून की दृष्टि में समान समझा जाता है और वैधानिक पक्ष से किसी व्यक्ति से जन्म, धर्म, नस्ल, रंग, लिंग आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाता।

स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए यह भी आवश्यक है कि राज्य में किसी भी वर्ग के लोगों को कोई विशेष अधिकार प्राप्त न हों और प्रत्येक व्यक्ति को विकास करने के लिए समान अवसर प्रदान किये जाएं। व्यक्तियों की स्वतन्त्रता शासकों की प्रसन्नता पर नहीं अपितु कानून पर निर्भर हो और शासक भी उसी कानून के अधीन हों जो साधारण जनता पर होता है। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अवश्य ही सुरक्षित रहेगी।

5. शक्तियों का विकेन्द्रीकरण (Decentralisation of Powers)—स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए प्रशासन की शक्तियों का विकेन्द्रीकरण होना अनिवार्य है। यदि शासन की समस्त शक्तियों को एक ही स्थान पर केन्द्रित किया जाएगा तो इसका अर्थ निरंकुश और अत्याचारी शासन से कुछ कम नहीं होगा। इसलिए स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए शक्तियों को किसी एक व्यक्ति या संस्था के पास केन्द्रित नहीं किया जाए अपितु जहां तक सम्भव हो सके शक्तियों को केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकारों और स्थानीय संस्थाओं में विभाजित किया जाए। प्रो० लॉस्की ने सत्य ही कहा है कि, "राज्य में शक्ति का जितना अधिक विस्तार से विभाजन होगा, उतना अधिक उसका विकेन्द्रीय स्वरूप होगा, लोगों में अपनी स्वतन्त्रता के लिए उतना ही अधिक उत्साहित होने की सम्भावना होगी।"[1]

6. आर्थिक सुरक्षा (Economic Security)—व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि वह आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त हो। आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त करने के लिए व्यक्ति को कार्य करने का अधिकार, उचित वेतन का अधिकार,

आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा (Economic and Social Security) के अधिकार आदि प्राप्त होने चाहिएं इसके अतिरिक्त पूर्ण रूप से आर्थिक समानता (Economic Equality) का स्थापित होना सम्भव नहीं है, परन्तु जहाँ तक सम्भव हो सके, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर नहीं होना चाहिए। प्रो० लॉस्की ने सत्य कहा है, कि, "जहाँ कुछ लोग धनी और निर्धन, शिक्षित और अशिक्षित होते हैं, वहां हमें सदैव ही स्वामी और दास का सम्बन्ध देखने को मिलता है।"[1]

7. स्वतन्त्र और ईमानदार प्रेस (Free and Honest Press)—वर्तमान युग में नागरिकों को अपने देश और विश्व भर में हो रही घटनाओं के विषय में सच्ची जानकारी केवल स्वतन्त्र और ईमानदार समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ आदि ही दे सकते हैं। वर्तमान लोकतन्त्रीय युग में जनता स्वयं ही अपने भाग्य का निर्णय करती है। इसलिए प्रो० लॉस्की का विचार है कि जिन लोगों को अपना और अपने देश के भविष्य का निर्णय करना है, उन्हें प्रत्येक प्रकार की घटनाओं के विषय में निष्पक्ष और सत्य सूचना प्राप्त होना आवश्यक है। यदि जनता को सच्चाई का ज्ञान नहीं होगा तो उनका निर्णय कभी भी वास्तविक नहीं हो सकता। प्रो० लॉस्की ने उचित ही कहा है कि, "विश्वसनीय समाचारों से रहित लोग कभी-न-कभी स्वतन्त्रता के अधिकार से वंचित हो जाएंगे क्योंकि गलत बयानों के वातावरण में निर्णय करने का अभिप्राय बुरी तरह पथभ्रष्ट होना है।"[2]

8. लिखित संविधान (Written Constitution)—व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए लिखित संविधान का होना आवश्यक है। लिखित संविधान के द्वारा सरकार के विभिन्न अंगों और अधिकारियों की शक्तियाँ निश्चित कर दी जाती हैं। इसलिए उनके द्वारा शक्तियों का दुरुपयोग होने की सम्भावना नहीं रहती। कानून का शासन (Rule of Law) वास्तविक अर्थों में लिखित संविधान द्वारा ही स्थापित हो सकता है। नागरिकों के मौलिक अधिकारों का वर्णन भी लिखित संविधान में ही अधिक उचित ढंग से किया जा सकता है क्योंकि ऐसी स्थिति में विधानपालिका या कार्यपालिका अधिकारों की अवहेलना नहीं कर सकती। व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए प्रत्येक पक्ष से लिखित संविधान एक अच्छा रक्षा-कवच (Safeguard) सिद्ध हो सकता है।

9. संगठित राजनीतिक दल (Well Organised Political Parties)—वर्तमान लोकतन्त्रीय राज्यों में राजनीतिक दलों का व्यावहारिक आधारों पर संगठित होना आवश्यक है। यदि राजनीतिक दल सैद्धान्तिक रूप से ठीक रूप में संगठित नहीं होंगे तो वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए योगदान नहीं दे सकते। संगठित राजनीतिक दल ही उचित रूप में शासन का संचालन कर सकता है या विरोधी दल के रूप में अपने कर्त्तव्य पूर्ण कर सकता है। संगठित राजनीतिक दलों के अभाव के कारण व्यक्ति की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ सकती है। इसलिए वर्तमान युग के राज्यों में राजनीतिक दलों का केवल होना ही पर्याप्त नहीं अपितु उनका सैद्धान्तिक आधारों पर उचित रूप से संगठित होना और भी अधिक आवश्यक है।

10. सतत् जागरूकता (Eternal Vigilance)—व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए सतत् जागरूकता, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रक्षा कवच (Safeguard) है। यह सत्य कहा गया है कि "सतत् जागरूकता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है।"[3] आलसी या अचेत व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने के योग्य नहीं हो सकते। चाहे शासन लोकतन्त्रीय हो, लिखित संविधान द्वारा मौलिक अधिकारों को सुरक्षित भी किया गया हो, निष्पक्ष और स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना भी हो जाए, प्रैस को पूर्ण स्वतन्त्रता भी प्राप्त हो और स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं भी हों परन्तु यह सब कुछ व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए पर्याप्त नहीं है। स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए सबसे अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण रक्षा कवच लोगों की स्वतन्त्रता के विषय में सतत् जागरूकता है। इस विचार को प्रो० लॉस्की ने बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। उनके शब्दों में, " कानून की शब्दावली नहीं बल्कि नागरिकों की महान् भावना उनके लिए सबसे अधिक वास्तविक रक्षक है।"

लोकतन्त्र में स्वतन्त्रता की प्रासंगिकता अथवा औचित्य (Relevance of Liberty in Democracy)—स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृ भाव को लोकतन्त्र के तीन मुख्य स्तम्भ माना जाता है। इसमें से किसी एक की अनुपस्थिति भी शासन प्रणाली को लोकतन्त्रीय स्वरूप से वंचित कर देती है। लोकतन्त्र में स्वतन्त्रता की अत्यधिक प्रासंगिकता या औचित्य का महत्त्व है। इस तथ्य को हम अग्रलिखित शीर्षकों अधीन वर्णन कर सकते हैं—

1. स्वतन्त्रता लोकतन्त्र की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है (Liberty an Important Characteristic of Democracy)—स्वतन्त्रता को लोकतन्त्र की विशेष आवश्यकता माना जाता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को जो महत्त्व लोकतन्त्र में प्राप्त है, उतना महत्त्व किसी भी अन्य शासन प्रणाली में सम्भव नहीं है। लोकतन्त्र ही एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें लोगों

1 "Where there are rich and poor, educated and uneducated we always find a relation of master and slave." —Laski

को अपने शासक को चुनने की भी स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया है। इस शासन प्रणाली में ही शासित (Ruled) किसी भी समय शासक (Ruler) बन सकता है। स्वतन्त्रता ही लोकतन्त्र की एक ऐसी विशेषता है जो इस प्रणाली को तानाशाही, सत्तावादी या सर्व सत्तावादी शासन से भिन्न करती है। लोकतन्त्र में हर तरह की स्वतन्त्रता का अस्तित्व होना भी आवश्यक माना जाता है। जबकि तानाशाही और दूसरी सत्तावादी शासन प्रणालियों में व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को प्रायः कुचला जाता है।

2. नागरिक स्वतन्त्रता लोकतन्त्र के लिए आवश्यक (Civil Liberty is essential for Democracy)—जीवन के विकास के लिए व्यक्ति को अनेक प्रकार की सुविधाओं की आवश्यकता है। इस तरह की सुविधाएं लोकतन्त्रीय राज्य में नागरिक अधिकारों के रूप में दी जाती हैं, जीवन का अधिकार, निजी स्वतन्त्रता का अधिकार, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, कानून के समक्ष समानता का अधिकार, कार्य का चुनाव करने की स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार आदि कुछ ऐसे नागरिक अधिकार हैं जिनके द्वारा राजनीतिक समाज में व्यक्ति को नागरिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। जिस राज्य में नागरिक स्वतन्त्रता की उपलब्धता के लिए नागरिक अधिकारों की व्यवस्था नहीं होती वह राज्य लोकतन्त्रीय स्वरूप का नहीं हो सकता है। नागरिक स्वतन्त्रता व्यक्ति के सर्व-पक्षीय विकास के लिए अति आवश्यक है। इसलिए किसी भी लोकतन्त्रीय देश में नागरिक स्वतन्त्रता की अनुपस्थिति होगी तो उस राज्य को लोकतन्त्रीय राज्य कहना अनुचित होगा।

3. राजनीतिक स्वतन्त्रता लोकतन्त्र का जीवन है (Political Liberty is very life of Democracy)—राजनीतिक स्वतन्त्रता की व्यवस्था राजनीतिक अधिकारों के रूप में की जाती है। राजनीतिक स्वतन्त्रता से भाव ऐसी स्वतन्त्रता से है जिसके द्वारा नागरिकों को सरकार के कामों में भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है। प्रो० लॉस्की के अनुसार, "राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ राज्य के कार्यों में भाग लेने की शक्ति से है।" लोगों को यह शक्ति मत देने, चुनाव लड़ने, सार्वजनिक पद प्राप्त करने, विनय-पत्र देने, सरकार की आलोचना करने आदि के अधिकारों द्वारा प्राप्त होती है। जिस शासन प्रणाली में लोगों को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है, वह शासन प्रणाली किसी भी आधार पर लोकतन्त्रीय स्वरूप की नहीं हो सकती है। राजनीतिक स्वतन्त्रता तो लोकतन्त्र की जान है। प्रत्येक प्रकार की स्वतन्त्रता लोकतन्त्र के लिए आवश्यक है परन्तु लोकतन्त्र में अन्य स्वतन्त्रताओं की अपेक्षा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान राजनीतिक स्वतन्त्रता का है।

4. आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना लोकतन्त्र अर्थहीन (Democracy is meaningless without Economic Liberty)—आर्थिक स्वतन्त्रता से भाव यह है कि व्यक्ति हर प्रकार की आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त हो, आजीविका कमाने के लिए आवश्यक अवसर उपलब्ध हों तथा उनका अन्य व्यक्तियों द्वारा शोषण न होता हो। इसी प्रकार आर्थिक स्वतन्त्रता तभी सम्भव हो सकती है यदि लोगों को समस्त आर्थिक अधिकार प्राप्त हों तथा देश में ऐसी आर्थिक प्रणाली हो जो समाज में आर्थिक असमानताओं को जन्म न देती हो। आर्थिक प्रणाली का स्वरूप ऐसा होना चाहिये जिसके अधीन व्यक्ति का आर्थिक शोषण सम्भव न हो, धन तथा उत्पादन के साधन थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित न हों तथा देश के भौतिक साधनों का उपयोग जनतक भलाई के विरुद्ध न हो। इसी प्रकार की आर्थिक प्रणाली आर्थिक स्वतन्त्रता के अस्तित्व को विश्वसनीय बना सकती है। जहाँ आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं होगी वहां राजनीतिक लोकतन्त्र वास्तव में अर्थहीन ही होगा। आर्थिक स्वतन्त्रता की अनुपस्थिति लोकतन्त्रीय प्रणाली को पूंजीपतियों के हाथों में साधारण लोगों का शोषण करने का साधन बन जाती है। जो लोग आर्थिक चिन्ताओं से ग्रस्त होते हैं, जिन लोगों को आजीविका कमाने के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध न हों तथा जिन व्यक्तियों को अपने श्रम के बदले आवश्यक तथा उचित वेतन भी प्राप्त न होता हो, उन व्यक्तियों की लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में किसी भी रूप में भाग लेने की रुचि कम ही सम्भव हो सकती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्थिक स्वतन्त्रता की उपलब्धता के बिना राजनीतिक लोकतन्त्र का वास्तविक व्यावहारिक महत्त्व सम्भव नहीं हो सकता है।

5. धार्मिक स्वतन्त्रता लोकतन्त्र की अनिवार्य विशेषता (Religious freedom is an essential characteristic of Democracy)—धर्म निरपेक्षता लोकतन्त्रीय राज्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। लोकतन्त्रीय राज्य में लोगों को पूर्णरूपेण धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त होना आवश्यक है। जो राज्य किसी विशेष धर्म को राज्य धर्म (State Religion) का दर्जा देता है तथा राज्य धर्म में सम्बन्धित लोगों को विशेष सुविधाएं देने की व्यवस्था करता है वह राज्य सही अर्थों में राज्य नहीं हो सकता। लोकतन्त्रीय राज्य में सभी लोगों को समान रूप में धार्मिक स्वतन्त्रता का उपलब्ध होना तथा धर्म के आधार पर किसी व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय के पक्ष में अथवा उसके विरुद्ध भेदभाव की अनुपस्थिति अनिवार्य है। आधुनिक युग धर्म निरपेक्ष राज्य का युग है। धर्मतान्त्रिक राज्य (Theocratic State) वास्तव में लोकतन्त्रीय नहीं हो सकता। अन्य लोकतन्त्रीय विशेषताओं के अतिरिक्त विशेषताओं के अतिरिक्त धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार की व्यवस्था किसी राज्य को सही अर्थों में लोकतन्त्रीय स्वरूप प्रदान करती है।

6. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता लोकतन्त्र का एक महत्त्वपूर्ण आधार (Personal Liberty is an essential base of Democracy)—प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता इच्छावान है। कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन-क्षेत्र में सरकार का

हस्तक्षेप सहन नहीं करता है। कुछ ऐसे मामले हैं जो अनिवार्य रूप में व्यवित के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित हैं। व्यवित की पोशाक, खाने-पीने की वस्तुओं में उसकी रुचि, किसी धर्म को मानने अथवा न मानने की प्रवृत्ति अपने जीवन साथी का चुनाव करने, शादी करवाने अथवा न करवाने आदि के विषय व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित हैं। लोकतन्त्रीय राज्य व्यवित के ऐसे निजी मामलों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करता है। यदि कोई लोकतन्त्रीय राज्य व्यवित की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उल्लंघन करता है तो ऐसा राज्य लोकप्रिय नहीं हो सकता है। जो राज्य लोकप्रिय नहीं होता वह लोकतन्त्र की वास्तविकता से बहुत दूर हो जाता है।

संक्षेप रूप में, हम यह कह सकते हैं कि लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता में अत्यन्त गहरा परस्पर सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध इतना अधिक गहरा है कि लोकतन्त्र को स्वतन्त्रता का तथा स्वतन्त्रता को लोकतन्त्र का सारांश कहना कोई अतिशयोवित न होगी।

Questions for University Examinations

समानता की अवधारणा
(Concept of Equality)

> मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुए हैं तथा वह अधिकारों के सम्बन्ध में सदैव स्वतन्त्र तथा समान रहते हैं। —लास्की
> *("Men are born free and always continue to be free and equal in respect of their rights."*
> *—Laski)*

समानता
(EQUALITY)

भूमिका *(Introduction)*

स्वतन्त्रता की भान्ति समानता का सिद्धान्त भी सदैव लोगों के आकर्षण की चीज रही है। जॉन लॉक ने स्वतन्त्रता की तरह समानता को भी व्यक्ति की नैसर्गिक आधार माना है। अमेरिका की स्वतन्त्रता की घोषणा में कहा गया कि सभी व्यक्ति जन्म से ही स्वतन्त्र व समान हैं। *(All men are created equal.)*

समानता लोकतन्त्र का मूल आधार है। समानता तथा स्वतन्त्रता लोकतन्त्र के दो महत्वपूर्ण स्तम्भ हैं।

प्राचीन काल में समानता का अभाव था। इस कारण उस समय दास प्रथा प्रचलित थी। दास प्रथा को प्राकृतिक माना जाता था। दासों का जीवन स्वामियों की दया पर निर्भर था। समय तथा परिस्थितियों में परिवर्तन न आने के कारण समानता के सिद्धान्त में भी परिवर्तन आया। 1776 में अमेरिका की घोषणा में स्पष्ट रूप से कहा गया कि हम इन सत्यताओं को स्पष्ट मानते हैं कि सभी मनुष्य समान पैदा हुए हैं।'' *("We hold these truths to be self-evident that all men are created equal).* 1789 की फ्रांस क्रान्ति के पश्चात् फ्रांस की राष्ट्रीय सभा (National Assembly) में मानवीय अधिकारों की जो घोषणा की गई उसमें भी यह स्पष्ट कहा गया कि "मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुए हैं तथा वह अधिकारों के सम्बन्ध में सदैव स्वतन्त्र तथा समान रहते हैं। *(Men are born free and always continue to be free and equal in respect of their rights.)*

राज्य की उत्पत्ति के समझौतावादी समर्थक स्वतन्त्रता तथा समानता को प्राकृतिक मानते हैं। 19वीं तथा 20वीं सदी में लोकतन्त्र के विकास के साथ समानता का महत्व और भी बढ़ गया। समानता तथा स्वतन्त्रता के अभाव में लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

समानता का अर्थ तथा परिभाषाएं
Meaning and Definitions of Equality

जहां तक समानता के सम्बन्ध में अर्थों का प्रश्न है, इस विषय में विद्वानों में एकमत नहीं है। समानता के सम्बन्ध में साधारण विचार यह है कि प्रकृति ने सभी को समान पैदा किया है, इसलिए सभी समान हैं। सबके साथ एक सा व्यवहार हो तथा सभी की समान आय होनी चाहिए। समानता के इस अर्थ के समर्थक प्राकृतिक समानता पर बल देते हैं। उनके विचार में मनुष्य समान पैदा होते हैं तथा प्रकृति ने उन्हें समान रूप में ही रहने के लिए पैदा किया है।

परन्तु कुछ विद्वान इस तथ्य से सहमत नहीं हैं। प्राचीन विचारक तो 'समता' की बातों को संशय की दृष्टि से देखते हैं। आधुनिक युग के विचारक भी समानता के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि प्रकृति ने सबको समान पैदा किया है। डॉ. टॉनी, लार्ड एक्टन, जुलियन हक्सले, प्रो. कोइंग आदि विद्वान समानता की अपेक्षा स्वतन्त्रता पर अधिक बल देते हैं। जुलियन हक्सले का कहना है कि "हमारा आदर्श यह होना चाहिए कि स्वतन्त्रता तो बनी रहे, परन्तु समानता कभी नहीं" *(Free but unequal should be our motto" —Julian Haxley)*

उपरोक्त सभी विचारक इस तथ्य में विश्वास करते हैं कि प्रकृति ने सबको समान पैदा नहीं किया। यदि व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो भी हमें पता लगता है कि इतिहास के किसी भी युग में किसी भी देश में इस प्रकार की समानता न कभी स्थापित हुई है तथा न ही स्थापित हो सकती है तथा न होगी।

1. समानता के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से परिभाषित करने का प्रयास किया है। उनकी परिभाषाओं से समानता का अर्थ स्पष्ट हो जाएगा। बार्कर का कथन है कि "समानता के सिद्धान्त का अर्थ है कि अधिकारों के रूप में जो सुविधाएं मुझे प्राप्त हैं वही सुविधाएं उसी रूप में दूसरों को प्राप्त होनी चाहिए

अधिकार दूसरों को प्रदान किए गए हैं वे मुझे भी प्राप्त होंगे।" (*"The principle of equality accordingly means that whatever conditions are guaranted to me, in the form of rights shall also and in the same means to be guaranteed to others and that whatever rights are given to others shall also be given to me."* **—Barker**)

2. लास्की के अनुसार, "नागरिक होने के नाते जो अधिकार अन्य व्यक्तियों को मिले हैं, उसी रूप में तथा उसी सीमा तक के अधिकार मुझे भी मिलने चाहिए।" (*"Whatever right's in here in another by virtue of his being a citizen must in here and to the same extent in me also."* **—Laski**)
3. जे.ए.कोरी के अनुसार- "समानता का विचार इस बात पर बल देता है कि सभी मनुष्य राजनीतिक रूप से समान होते हैं। राजनीतिक जीवन में समान रूप से भाग लेने, अपने मताधिकार का प्रयोग करने, निर्वाचित होने तथा कोई भी पद ग्रहण करने के लिए सभी नागरिक समान रूप से अधिकारी होते हैं।" (*"The right, equally proper, is a right in the equal satisfaction of basic human needs, including the need to development and use capacities which are specially human."* **—J.A. Corry**)
4. टॉनी के मतानुसार - सबके लिए व्यवस्था की समानता विभिन्न आवश्यकताओं को एक ही प्रकार के सम्बन्धित कर अथवा समझ कर प्राप्त नहीं की जा सकती। परन्तु आवश्यकताओं के अनुरूप विभिन्न प्रकारों से उन्हें पूरा करने के लिए एक समान ध्यान दे कर प्राप्त की जा सकती है। (*Equality of provision is to be achieved not by treating different needs in the way, but by devoting equal care to ensuring that they are met in the different ways most appropriate to them."* **—Towney**)
5. अप्पादोराय का कथन है कि, "सभी मनुष्य समान हैं, ऐसे ही गलत है जैसे कि यह कहना कि पृथ्वी समतल है।" (*The statement that men are equal is as erroneous that the surface of earth is level."* **—Appadorai**)
6. प्रो. डी. रिफेल ने इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है कि, "समानता का तात्पर्य यह है कि सब लोगों को यह हक है कि उनकी मूलभूत मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि अवश्य हो। इसके अन्तर्गत मानवीय क्षमताओं के विकास व उनके प्रयोग के अवसर भी आ जाते हैं।" (*The right to equality proper - is a right to the equal satisfaction of basic human needs, including the need to develop and use capacities which are specifically human."* **Pro. D. Raphel**)
7. लास्की के अनुसार, "जब तक सब लोगों को आवास की सुविधाएं न मिल जाएं तब तक किसी भी व्यक्ति को बीस कमरों वाले आलीशान भवन में रहने का कोई अधिकार नहीं है।"
(*"One man is not entitled to a house of twenty rooms until all people are adequately housed."* **—Laski**)

समानता की ऊपर वर्णित परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सभी व्यक्तियों में एकरूपता सम्भव नहीं है, परन्तु समानता का सिद्धान्त यह मांग करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक अवसर प्राप्त नहीं होने चाहिए। कोई व्यक्ति अवसरों के समान अभाव के कारण किसी वस्तु को प्राप्त करने से वंचित नहीं रहना चाहिए।

इस तरह समानता के अर्थ का अभिप्राय है—

1. जन्म, जाति, धर्म, रंग, लिंग आदि के आधार पर विशेष अधिकारों का अभाव।
2. विना किसी भेदभाव के सभी व्यक्तियों के लिए समान अधिकारों की अवसरों की उपलब्धता।
3. सभी व्यक्तियों को अपना सर्वोत्तम विकास करने के योग्य तथा समान अवसरों की उपलब्धता।
4. व्यक्तियों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए योग्य अवसरों की समान व्यवस्था।

समानता के दो पक्ष *(Two Aspects of Equality)*

जिस प्रकार से हम स्वतन्त्रता के अर्थ को लेकर उसके दो पक्ष पाते हैं, उसी प्रकार से समानता के सम्बन्ध में भी हमें दो पक्ष देखने को मिलते हैं :-

1. नकारात्मक पक्ष (Negative Aspect)
2. सकारात्मक पक्ष (Positive Aspect)

समानता की विशेषताएँ
(CHARACTERISTICS OF EQUALITY)

समानता की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएं इस प्रकार हैं—

1. समानता का भाव पूर्ण समानता नहीं (Equality does not mean Total Equality)—समानता का अर्थ सभी लोगों की पूर्ण समानता नहीं है। पूर्ण समानता तो प्राकृतिक समानता की विशेषता भी नहीं हो सकती है। समाज में रहते व्यक्तियों में प्राकृतिक भिन्नताओं के अतिरिक्त और भी अनेकों प्रकार की भिन्नताएं हैं । ऐसी स्थिति में पूर्ण समानता की सम्भावना नहीं हो सकती है। समानता का भाव एक जैसी अवस्थाओं में सभी व्यक्तियों के साथ एक जैसा व्यवहार है।

2. भेदभाव का निषेध (Absence of Discrimination)—जहाँ जन्म, जाति, धर्म, लिंग या किसी भी और ऐसे आधार पर आदमी-आदमी में भेदभाव किया जाता है वहां समानता का अस्तित्व नहीं हो सकता है। भेदभावों का निषेध ही समानता का सारांश है।

3. संरक्षित भेदभाव की व्यवस्था (Provisions of Protective Discrimination)—जाति या जन्म आदि के आधार पर भेदभाव का अस्तित्व समानता के सिद्धान्त का उल्लंघन है। परन्तु यदि जाति या किसी और आधार पर समाज के कमजोर वर्गों या पिछड़ी श्रेणियों के लोगों के हितों की सुरक्षा तथा विकास के लिए इन वर्गों के लोगों को विशेष रियायतें या सुविधाएं दी जाती हैं तो ऐसी रियायतें समानता के सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं होती हैं। कमज़ोर वर्गों के पक्ष में भेदभाव की व्यवस्था को संरक्षित भेदभाव कहा जाता है और ऐसे भेदभाव का उद्देश्य पिछड़े वर्गों के लोगों को समाज के उन्नत वर्गों के लोगों को समान विकास करने योग्य बनाना होता है। इस सम्बन्धी हमारे अपने देश के उदाहरण हमारे समक्ष है। अनुसूचित जातियां व अनुसूचित कबीलों के लोगों के लिए लगभग प्रत्येक क्षेत्र में विशेष रियायतों की व्यवस्था की गई है। इस व्यवस्था को भारतीय संविधान में अंकित समानता के मौलिक अधिकारों की उल्लंघना नहीं माना जाता।

4. विशेष अधिकारों का अभाव (Absence of special rights)—यदि समाज के किसी वर्ग के लिए जन्म, वंश, धर्म, नस्ल, सामाजिक या आर्थिक स्थिति आदि के आधार पर विशेष अधिकारों की व्यवस्था की जाती है तो उस समाज में समानता का अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता है। यदि सरकारी पद्धतियां कुछ विशेष वर्गों के लिए सुरक्षित की जाती हैं तथा कुछ अन्य वर्गों को उन पद्धतियों से वंचित रखा जाता है तो ऐसी स्थिति समानता के सिद्धान्त का उल्लंघन होगा।

5. समान अधिकारों की व्यवस्था (Provision of equal rights)—समानता के इस पक्ष का सारांश लॉस्की के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है, ''नागरिक होने के नाते किसी भी दूसरे व्यक्ति को जो अधिकार दिये गये हैं वे अधिकार इस सीमा तक मुझे भी दिये जाने चाहिएं।'' समानता का सिद्धान्त यह मांग करता है कि किसी भी आधार पर व्यक्तियों के किसी भी वर्ग को किसी भी अधिकार से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। प्रत्येक नागरिक के लिए समान अधिकारों की व्यवस्था समानता की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

6. अवसरों की समान उपलब्धता (Equal Availability of opportunities)—स्वतन्त्रता का सिद्धान्त यह मांग करता है कि अधिकारों की केवल व्यवस्था ही नहीं होनी चाहिए बल्कि सभी व्यक्तियों के लिए उनकी समान उपलब्धता भी होनी आवश्यक है। प्रत्येक तरह के अवसर सभी नागरिकों को समान रूप में प्राप्त होने चाहिएं और किसी भी व्यक्ति को किसी भी आधार पर अपना सर्वोत्तम विकास करने के लिए अवसरों से वंचित नहीं किया जाना चाहिए।

7. मौलिक ज़रूरतों की पूर्ति (Fulfilment of basic needs)—जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति ही मानवीय विकास का मूल आधार है। जिस समाज में सभी लोगों की मूल आवश्यकताएं ही पूर्ण नहीं होतीं उस समाज में समानता का अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता है। समानता के अस्तित्व के लिए प्रथम शर्त मानवीय जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति है। लॉस्की का कथन है कि, ''मुझे केक खाने का कोई अधिकार नहीं है यदि मेरे इस अधिकार के कारणवश मेरा पड़ोसी रोटी के बगैर भूखा रहता है।'' एक अन्य जगह पर लॉस्की ने कहा है कि

जब तक सभी लोगों को रहने के लिए मकान की आवश्यक सुविधाएं नहीं मिलतीं तब तक किसी भी व्यक्ति को बीस कमरों के मकान में रहने का कोई अधिकार नहीं है।"[1]

डी० डी० राफेल (D.D. Raphel) के अनुसार, "समानता के अधिकार का उचित भाव सभी लोगों की मौलिक मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार है।"[2]

संक्षेप में, विशेष अधिकारों का अभाव, सभी के लिए समान अधिकारों की व्यवस्था, अवसरों की समान उपलब्धता, मानवीय जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति और प्रत्येक तरह के भेदभाव का अभाव समानता की आवश्यक विशेषताएं हैं।

समानता के वैधानिक पक्ष या वैधानिक समानता की विशेषताएं हैं (CHARACTERISTICS OF THE LEGAL DIMENSION OF EQUALITY OR LEGAL EQUALITY)

समानता के वैधानिक पक्ष या वैधानिक समानता की महत्त्वपूर्ण विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

1. कानून के समक्ष समानता (Equality before Law)—कानून के समक्ष समानता का सामान्य अर्थ यह है कि कानून किसी भी आधार पर किसी व्यक्ति के विरुद्ध मतभेद नहीं करता। कानून के क्षेत्र में ऊंच-नीच, धनी-निर्धन, रंग-नस्ल, जन्म व जाति आदि के तथ्य का कोई वैधानिक महत्त्व नहीं है। इस तथ्य की व्याख्या करते हुए विख्यात अंग्रेज विद्वान् डायसी (Dicey) ने कहा है, "वैधानिक समानता का अभिप्राय वैधानिक न्यायालयों द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले साधारण कानूनों के समक्ष वर्गों की समान अधीनता है। अन्य नागरिकों को नियन्त्रित करने वाले कानून का परिपालन और साधारण न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र में सरकारी अधिकारियों या अन्य लोगों की छूट का विचार इसमें सम्मिलित नहीं है।"[2]

2. कानून की समान सुरक्षा (Equal protection of Law)—कानून की समान सुरक्षा का सामान्य अर्थ है कि एक-सी स्थितियों में एक-से व्यक्तियों को कानून की समान सुरक्षा प्राप्त होती है। यदि कोई भी व्यक्ति कोई अपराध करता है, तो उसे निश्चित कानून के अनुसार निश्चित वैधानिक विधि द्वारा दण्ड दिया जा सकता है। कानून किसी एक विशेष वर्ग के लोगों के लिए नहीं होता, अपितु सभी को समान सुरक्षा प्रदान करता है। न्याय करते समय कानून के आधार पर न्यायालयों द्वारा किसी व्यक्ति से जन्म, धर्म, जाति के कारण कोई भेदभाव नहीं किया जा सकता। इस विषय में डायसी का कथन उल्लेखनीय है। उसके अनुसार, "हमारे देश में प्रधानमन्त्री से लेकर एक सिपाही या करों को एकत्र करने वाले अधिकारी तक प्रत्येक व्यक्ति वैधानिक अधिकार क्षेत्र से बिना किए कार्य के लिए उतना ही उत्तरदायी है जितना कि कोई अन्य सामान्य नागरिक।"[3]

3. कानून का शासन (Rule of Law)—कानून के शासन का सामान्य अर्थ कानून की सर्वोच्चता है। इसका दूसरा अर्थ किसी भी व्यक्ति या संस्था का कानून से ऊपर न होना है। इसका एक और अर्थ यह है कि देश के साधारण न्यायालयों में साधारण वैधानिक विधि के अनुसार कानून की स्पष्ट अवहेलना सिद्ध किए बिना किसी व्यक्ति को किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जा सकता। अन्य शब्दों में, किसी व्यक्ति को दण्ड तभी दिया जा सकता है यदि उसने किसी निश्चित कानून की अवहेलना की है और उसकी अवहेलना न्यायालय में निश्चित वैधानिक विधि के अनुसार सिद्ध हो गई है।

4. भेदभाव का निषेध (Prohibition of Discrimination)—समानता का वैधानिक पक्ष यह मांग करता है राज्य द्वारा किसी व्यक्ति से सामाजिक या धार्मिक या राजनीतिक आधार पर कोई भेदभाव न किया जाए। समाज में धर्म, जन्म, जाति आदि के आधार पर सामाजिक पक्षपात पाए जाते हैं। कानून द्वारा ऐसे भेदभावों को वैधानिक अपराध घोषित किया जाना अनिवार्य है ताकि ये भेदभाव समानता के वैधानिक पक्ष के मार्ग में बाधा सिद्ध न हों।

सकते। यदि ऐसा होता है, तो ऐसी व्यवस्था समानता के वैधानिक पक्ष की स्पष्ट अवहेलना होगी। सरकारी अधिकारियों या विधायकों या शासन के प्रबन्ध से सम्बद्ध कुछ अन्य उच्च व्यक्तियों को विशेष सुविधाएँ या छूटें उन्हें कानून के क्षेत्राधिकार से या कानून के परिपालन से मुक्त नहीं कर सकतीं।

8. समान अधिकारों की व्यवस्था (Provision of Equal Rights)—अधिकार सार्वभौमिक रूप से होते हैं। इसका अभिप्राय है कि अधिकार सभी व्यक्तियों के लिए समान होते हैं। आधुनिक युग में अधिकारों की व्यवस्था लिखित और सर्वोच्च संविधान में की जाती है। समानता का वैधानिक पक्ष यह मांग करता है कि अधिकारों की व्यवस्था सभी के लिए समान होनी चाहिए। यदि किसी विशेष वर्ग या श्रेणी के लोगों को कुछ अधिकारों से वंचित रखा जाता है तो समानता के वैधानिक पक्ष की स्पष्ट अवहेलना है।

आलोचना (Criticism)—समानता का वैधानिक पक्ष या वैधानिक समानता का विचार बहुत अच्छा विचार है। ऐसी धारणा प्रजातन्त्रीय प्रणाली की महत्त्वपूर्ण विशेषता मानी जाती है। सैद्धान्तिक पक्ष से इस धारणा या विचार की कोई आलोचना नहीं की जा सकती, परन्तु वास्तव में यह धारणा पर्याप्त सीमा तक अव्यावहारिक प्रतीत होती है। लॉस्की के इन शब्दों में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि, ''हमें यह सत्य कभी नहीं भूलना चाहिए कि नागरिकों को अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए कानून द्वारा दिए जाने वाले अवसरों से लाभ उठाने में धन ही निर्णायक तथ्य सिद्ध होता है। निर्धनों के लिए वैधानिक सहायता की व्यवस्था होते हुए भी न्यायालय में कोई कार्यवाही करना वास्तव में एक वित्तीय प्रश्न ही है। कानून के दीवानी क्षेत्र में जहां अपीलों की लम्बी शृंखला मौजूद है, भी लाभ धनियों को मिलता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि अत्यधिक योग्य वकील उनकी सेवा में होंगे जो उनके व्यय को सहन कर सकते हैं।''[1]

लॉस्की के इस कथन का अभिप्राय स्पष्ट है कि जिस समाज में अमीरी और गरीबी के मध्य की खाई इतनी चौड़ी हो, उसमें वैधानिक समानता न्याय दिलवाने के लिए पर्याप्त नहीं है। वैधानिक समानता से सभी नागरिकों को एक-सा लाभ तब ही हो सकता है जब वे सभी न्यायालय का आश्रय लेने में एक से समर्थ हों। जब तक वैधानिक व्यय बहुत ऊंचे रहेंगे, वैधानिक प्रक्रिया बहुत पेचीदा एवं जटिल रहेगी और समाज में आर्थिक विषमताएं अत्यधिक रहेंगी तब तक सभी को कानून की समान सुरक्षा एवं समान लाभ मिलना सम्भव नहीं है। वैधानिक समानता को व्यावहारिक रूप में सम्भव बनाने के लिए सामाजिक और आर्थिक समानता का अस्तित्व आवश्यक है।

... factor in the power to take advantage of the opportunities of

अथवा

राजनीतिक समानता
(POLITICAL EQUALITY)

राजनीतिक समानता का सामान्य अर्थ समस्त नागरिकों को समान राजनीतिक अधिकारों का प्राप्त होना है। राजनीतिक समानता का सिद्धान्त सभी नागरिकों को शासन के कामों में भाग लेने का समान अवसर प्रदान करता है। जहां राजनीतिक समानता होगी, वहां राजनीतिक अधिकारों के विषय में किसी नागरिक से किसी भी आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। ऐसे अधिकारों की समान प्राप्ति ही राजनीतिक समानता की वास्तविकता या सारांश है। कुशमैन (Cushman) ने ठीक कहा है, "व्यवहार में राजनीतिक समानता का आदर्श वयस्क मताधिकार और प्रतिनिधि सरकार, संक्षेप में, आधुनिक प्रजातन्त्र पर केन्द्रित हैं।" [1]

राजनीतिक समानता के प्रतीक
(SYMBOLS OF POLITICAL EQUALITY)

जिस समाज में निम्नलिखित राजनीतिक अधिकार सभी लोगों को समान रूप में प्राप्त हैं, वहां ही राजनीतिक समानता का अस्तित्व होगा—

1. मताधिकार (**Right of Vote**)—प्रजातन्त्रीय प्रणाली में प्रतिनिधियों का चुनाव करने के लिए व्यक्ति को मताधिकार दिया जाता है। इस अधिकार के द्वारा ही नागरिक अप्रत्यक्ष रूप में शासन कार्यों में भाग ले सकते हैं। लोकतन्त्रीय प्रणाली में प्रत्येक सभा या संस्था के सदस्यों का चुनाव होता है। इस उद्देश्य के लिए विशेष आयु निश्चित कर ली जाती है और जब भी कोई पुरुष-स्त्री इस निश्चित आयु को प्राप्त कर लेता है तो उन्हें बिना किसी भेदभाव के मताधिकार दिया जाता है परन्तु यह अधिकार पागलों, दीवालियों, न्यायालयों द्वारा घोषित किये अपराधियों, देश-द्रोहियों आदि को नहीं दिया जाता। मताधिकार देने के लिए निश्चित आयु प्रत्येक देश में एक-सी नहीं होती अपितु प्रत्येक देश में यह आयु देश की विशेष परिस्थितियों और राष्ट्रीय हितों को सम्मुख रख कर निश्चित की जाती है। जैसे भारत, इंग्लैंड, अमेरिका आदि देशों में यह आयु 18 वर्ष निश्चित की गई है।

2. चुनाव लड़ने का अधिकार (Right to be Elected)—मताधिकार चुनाव लड़ने के अधिकार के बिना अधूरा है। लोकतन्त्रीय राज्यों में नागरिकों को बिना किसी भेदभाव से समानता के आधार पर चुनाव लड़ने का अधिकार दिया जाता है। इस अधिकार के लिए भी आयु निश्चित की जाती है। जिस प्रकार भारत में लोकसभा या विधानसभा के चुनाव के लिए 25 वर्ष, राज्यसभा के लिए 30 वर्ष और राष्ट्रपति पद के लिए 35 वर्ष की आयु का होना आवश्यक है। आयु के अतिरिक्त कुछ अन्य योग्यताएं भी रखी जाती हैं जो चुनाव लड़ रहे प्रत्याशियों को पूरी करनी पड़ती हैं। जो प्रत्याशी उन योग्यताओं पर पूरा न उतरता हो, वह चुनाव नहीं लड़ सकता।

3. सरकारी पद प्राप्त करने का अधिकार (Right to hold Public Office)—प्रत्येक नागरिक को समानता के आधार पर सरकारी पद प्राप्त करने का अधिकार दिया जाता है। किसी व्यक्ति को जाति-पाति, रंग, लिंग, धर्म आदि के आधार पर किसी पद से वंचित नहीं किया जा सकता। हमारे देश में कोई भी नागरिक, जो आवश्यक योग्यताएं पूरी करता हो, उसे सरकारी पद को प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है। प्रत्येक नागरिक किसी भी राजनीतिक पद को प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय
है कि किसी विशेष वर्ग या जाति के लोगों के लिए सरकारी सेवाओं में कुछ स्थान आरक्षित रखे जा सकते हैं। जैसे कि हमारे देश
में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए केन्द्रीय और राज्य सेवाओं में कुछ स्थान आरक्षित हैं।

4. सरकार का विरोध करने का अधिकार (Right to Resist the Government)—लोकतन्त्रीय राज्य में बुरे कानूनों का
विरोध करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। यह बात याद रखने योग्य है कि सरकार के विरोध का अधिकार केवल संवैधानिक
ढंगों द्वारा ही होना चाहिए और इस उद्देश्य के लिए हिंसक या दबाव डालने वाले साधनों के प्रयोग की आज्ञा नहीं होनी चाहिए।
यहां यह बात उल्लेखनीय है कि लोकतन्त्रीय प्रणाली में लोगों को सरकार की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक आदि नीतियों
की आलोचना या विरोध करने का अधिकार अवश्य दिया जाना चाहिए, परन्तु सरकार के विरुद्ध विद्रोह या बगावत करने का
अधिकार नहीं दिया जा सकता। किसी भी प्रजातन्त्रीय देश में ऐसा अधिकार लोगों को प्राप्त नहीं है।

... universal adult suffrage and representative

5. याचिका देने का अधिकार (Right to Petition)—लोकतन्त्र में किसी व्यक्ति के साथ किसी भी सरकारी कर्मचारी अथवा अधिकारी की ओर से हुए अत्याचार के विरुद्ध आवेदन-पत्र द्वारा न्याय की मांग की जा सकती है। प्रत्येक नागरिक का यह अधिकार है कि यदि कोई व्यक्ति या संस्था अपनी शक्ति का दुरुपयोग करती है तो नागरिक उसके विरुद्ध याचिका (Petition) दे सकता है। ऐसी याचिका व्यक्तिगत रूप में या सामूहिक रूप में व्यक्तियों द्वारा पेश की जा सकती है। ऐसी याचिका विधानमण्डल या कार्यपालिका को दी जाती है, परन्तु यदि इनके द्वारा व्यक्ति को न्याय न मिले तो लोग वैधानिक विधि के अनुसार न्यायालयों की शरण ले सकते हैं।

6. राजनीतिक दल बनाने का अधिकार (Right to from Political Parties)—राजनीतिक दलों के बिना अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र के वास्तविक रूप की कल्पना भी नहीं की जा सकती। लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों के महत्त्व को सम्मुख रखते हुए आवश्यक है कि व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार किसी भी राजनीतिक दल में शामिल होने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। राज्य द्वारा व्यक्ति को राजनीतिक दल का सदस्य बनने से रोकना चाहिए और न ही किसी व्यक्ति को किसी विशेष राजनीतिक दल का सदस्य बनने के लिए विवश नहीं करना चाहिए। यदि एक से राजनीतिक विचारों के व्यक्ति मिल पर किसी राजनीतिक दल का निर्माण करना चाहते हैं तो उन्हें ऐसा करने की छूट होनी चाहिए, परन्तु यदि सरकार यह अनुभव करे कि कोई राजनीतिक दल राष्ट्रीय हितों के अनुकूल नहीं है या राष्ट्रीय एकता या देश की सुरक्षा के लिए संकट है तो ऐसे दल पर सरकार उचित प्रतिबन्ध लगा सकती है।

समानता के राजनीतिक पक्ष या राजनीतिक समानता की आलोचना (CRITICISM OF POLITICAL DIMENSION OF EQUALITY OR POLITICAL EQUALITY)

राजनीतिक समानता की धारणा निःसन्देह एक आदर्श धारणा है। परन्तु प्रजातन्त्रीय समाजों की वास्तविकता इस आदर्श की व्यावहारिक सम्भावना को रद्द करती है। अन्य शब्दों में, प्रजातन्त्रीय राज्यों निम्नलिखित कुछ ऐसे तथ्य पाए जाते हैं जो राजनीतिक समानता के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं हैं —

1. आर्थिक विषमताएं (Economic Inequalities)—उदारवादी प्रजातन्त्रीय राज्य में वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रणाली प्रचलित है। उत्पादन के साधन मुख्यतः वैयक्तिक स्वामित्व के अधीन हैं। ऐसी व्यवस्था में लोगों में आर्थिक विषमताएं बहुत बढ़ गई हैं। जिस समाज में धनी और निर्धन, स्वामी एवं नौकर की आर्थिक स्थिति में अत्यधिक अन्तर है, उस समाज में राजनीतिक समानता केवल एक कल्पित आदर्श ही की प्रतीक होती है। निर्धन व्यक्ति न तो चुनाव लड़ सकता है और न ही अपने मतदान के अधिकार को स्वतन्त्रता सहित प्रयोग कर करता है।

2. राजनीतिक सत्ता वास्तव में एक विशिष्ट वर्ग के पास होती है (Political power is actually enjoyed by an elite)—आधुनिक प्रजातन्त्रीय राज्यों में राजनीतिक शक्ति एक विशिष्ट वर्ग के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। डी० बी० वरने (D. B. Verney) का कथन है कि "यद्यपि कोई अपनी राजनीतिक प्रणाली में कितना भी प्रजातन्त्रीय होने का प्रयास करे तथापि प्रत्येक संगठन में अल्पतन्त्र का सशक्त तथ्य अवश्य होता है।" [1]

इस अल्पतन्त्र का अर्थ थोड़े से व्यक्तियों के ऐसे विशिष्ट वर्ग से है जो प्रजातन्त्रीय प्रणाली में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करता है। लोगों की राजनीतिक समानता तो चुनावों की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाती है। लोग राजनीतिक समानता के नाम पर मत देने के अतिरिक्त राजनीतिक शक्ति की प्रक्रिया में कोई और व्यावहारिक भूमिका अभिनीत नहीं करते।

3. नौकरशाही का प्रभुत्व (Dominance of Bureaucracy)—राजनीतिक समानता को महत्त्वहीन बनाने में नौकरशाही का भी महत्त्वपूर्ण भाग है। मन्त्री या विधायक राजनीतिज्ञ होते हैं। शासन के कार्यों के विषय में उन्हें विशेष ज्ञान नहीं होता। अतः वे प्रशासकीय पदाधिकारियों पर अधिक-से-अधिक निर्भर करते हैं। शासन का वास्तविक प्रबन्ध नौकरशाही ही करती है। पदाधिकारियों की नियुक्ति में लोगों का कोई हाथ नहीं होता। पदाधिकारी लोगों के प्रति उत्तरदायी भी नहीं होते। ऐसी अवस्था में राजनीतिक समानता के आदर्श का शासन के कार्यों में भाग लेने का राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करने से कोई व्यावहारिक सम्बन्ध नहीं रह जाता। इस प्रकार राजनीतिक समानता का आदर्श राजनीतिक अधिकारों को लोगों को देने तक ही सीमित है।

सामाजिक समानता
(SOCIAL EQUALITY)

सामाजिक समानता का अर्थ (Meaning of Social Equality)—सामाजिक समानता का अर्थ यह है कि समाज में सभी व्यक्तियों को सामाजिक दृष्टि से समान समझा जाना चाहिए। किसी व्यक्ति के साथ धर्म, जाति, रंग, नस्ल, लिंग या सामाजिक पद

का प्रतिष्ठा (Social Status) के आधार पर किसी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए और न किसी व्यक्ति को इनमें से किसी आधार पर समाज में कोई विशेष महत्त्व मिलना चाहिए। सभी व्यक्ति समाज के एक समान लाभदायक अंग हैं। समाज की दृष्टि में कोई भी एक-दूसरे से निम्न नहीं है। समाज में सभी की स्थिति समान है और सभी को एक समान वैधानिक अधिकार प्राप्त हैं। जिस समाज में जन्म वंश, रंग, जाति, धर्म आदि के आधार पर मतभेद किया जाता है, वहां सामाजिक समानता का होना असम्भव है। उदाहरणस्वरूप शताब्दियों से ही भारत में जन्म के आधार पर मानवता के एक बहुत बड़े भाग को अछूत कह कर दुत्कारा जाता रहा है। ऐसी स्थिति में सामाजिक समानता नहीं हो सकती है। दक्षिण अफ्रीका में रंग के आधार पर सितम्बर, 1992 तक अफ्रीकी लोगों को घटिया समझकर गोरे रंग के अंग्रेज़ों से दूर रखा जाता था। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी काले रंग के सम्पूर्ण नीग्रो लोगों को वह सम्मान प्राप्त नहीं है जो गोरे रंग के अमेरिकन लोगों को प्राप्त है। ऐसी स्थिति सामाजिक समानता के सिद्धान्त की अवहेलना है।

सामाजिक समानता की विशेषताएं
(FEATURES OF SOCIAL EQUALITY)

सामाजिक समानता के अनेक पक्ष है। इसके अनेक पक्ष ही इसकी विशेषताओं के प्रतीक हैं। सामाजिक समानता की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएं तथा तथ्य निम्नलिखित हैं —

1. भेदभाव का अभाव (Absence of Discrimination)—सामाजिक समानता की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि जीवन के किसी भी क्षेत्र में जन्म, धर्म, जाति, लिंग, सामाजिक प्रतिष्ठा, सम्पत्ति आदि के आधार पर किसी व्यक्ति से भेदभाव या पक्षपात न किया जाता हो। सामाजिक समानता के लिए यह आवश्यक है कि वैधानिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में ऐसे आधारों पर किसी के पक्ष या विपक्ष में कोई भेदभाव या पक्षपात न हो। यदि कानून किसी व्यक्ति से जन्म, धर्म, नस्ल या जाति के आधार पर कोई भेदभाव करता है तो वहां न तो वैधानिक समानता और न ही सामाजिक समानता हो सकती है।

2. विशेष अधिकारों का अभाव (Absence of special privileges)—सामाजिक समानता का सिद्धान्त सभी व्यक्तियों को समाज का समान और अनिवार्य अंग मानता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रतिष्ठा, वर्ग या जाति आदि के आधार पर विशेषाधिकार समानता की अवहेलना है। नस्ल, जन्म, प्रतिष्ठा, जाति, वंश या किसी अन्य तथ्य की कथित श्रेष्ठता के आधार पर किसी भी व्यक्ति या वर्ग को कोई ऐसे विशेषाधिकार प्रदान नहीं किए जा सकते।

3. समान अवसरों की उपलब्धता (Availability of equal opportunities)—अवसरों की समान प्राप्ति सामाजिक समानता की अनिवार्य शर्त हैं। यदि कुछ अवसर किसी विशेष वर्ग के लोगों के लिए आरक्षित रखे जाएंगे या कुछ अवसरों से कुछ व्यक्तियों या किसी वर्ग को वंचित रखा जाएगा तो यह सब कुछ सामाजिक समानता की अवहेलना होगी। सितम्बर, 1992 तक दक्षिणी अफ्रीका में रंग-भेद की नीति के आधार पर काले अफ्रीकियों को अनेक ऐसी सुविधाएं या अधिकार प्राप्त नहीं थे जो वहां के गोरे लोगों को दिए गए थे। ऐसी स्थिति सामाजिक समानता के विरुद्ध है।

4. संरक्षित भेदभाव की व्यवस्था (Provision of Protective Discrimination)—जाति या जन्म के आधार पर भेदभाव करना सामाजिक समानता के विरुद्ध है। परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में ऐसा भेदभाव सामाजिक समानता के लिए आवश्यक बन जाता है। उदाहरणार्थ, भारत में अनुसूचित जातियों एवं जन-जातियों के लोग रहते हैं। इन जातियों के लोगों के साथ कथित उच्च जातियों की ओर से ऐसा अमानवीय व्यवहार किया जाता रहा है कि ये लोग बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक और लगभग प्रत्येक क्षेत्र में अत्यधिक पिछड़ गए हैं। इसलिए यह आवश्यक बन जाता है कि उन लोगों के लिए विशेष सुविधाओं या विशेष रियायतों का प्रबन्ध किया जाए। ऐसी विशेष सुविधाएं इन लोगों के हितों की सुरक्षा के लिए होंगी। ऐसा भेदभाव इन लोगों के पक्ष में होगा ताकि वे इस संरक्षित भेदभाव का लाभ उठा कर समाज के अन्य लोगों के समान प्रगति कर सकें। इस प्रकार स्पष्ट है कि संरक्षित भेदभाव सामाजिक समानता के सिद्धान्त की अवहेलना नहीं है।

सामाजिक समानता को व्यावहारिक रूप में सम्भव बनाने के लिए सुझाव
(SOME SUGGESTIONS TO MAKE SOCIAL EQUALITY PRACTICALLY POSSIBLE)

सामाजिक समानता के आदर्श को अधिक-से-अधिक मात्रा में सम्भव बनाने के लिए अग्रलिखित सुझावों को कार्यान्वित करना आवश्यक है —

1. **आर्थिक समानता (Economic Equality)**—आधुनिक उदारवादी राज्यों के लोगों को राजनीतिक समानता और वैधानिक समानता प्राय: प्राप्त होती हैं, परन्तु लोगों में आर्थिक असमानताएं इतनी अधिक हैं कि इन वैधानिक समानताओं का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। ऐसे समाज में सम्पत्तिशाली व्यक्तियों या पूंजीपतियों का अभ्युदय होता है। बेन एवं पीटर (Benn and Peters) ने सत्य ही कहा है कि ऐसे समाज में "पूंजीपति विशिष्ट वर्ग प्रभावशाली राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करता है। न्यायाधीश एवं विधिवेत्ता इस वर्ग में से ही आते हैं और इस वर्ग के प्रति झुकाव रखते हैं। वैधानिक व्यय न्याय को निर्धन व्यक्ति की पहुंच से बाहर रखते हैं।"[1] ऐसी अवस्था में कानून के समक्ष समानता या राजनीतिक समानता या सामाजिक समानता का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं रह जाता। सामाजिक समानता को सम्भव बनाने के लिए यह आवश्यक है कि आर्थिक विषमताओं को कम-से-कम किया जाए और प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध हों।

2. **सामाजिक समानता की भावना को उत्पन्न करना (To inculcate the sentiments of Social Equality)**—सरकार द्वारा उठाए गए वैधानिक पग सामाजिक समानता को स्थापित नहीं कर सकते। इस उद्देश्य के लिए कानूनों के साथ-साथ सामाजिक समानता के लिए भावना का उत्पन्न किया जाना अनिवार्य है। यदि अमीर और गरीब घरों के बच्चे विभिन्न प्रकार के विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करेंगे, यदि कथित उच्च जातियों एवं कृपि निम्न जातियों के लोग विभिन्न मोहल्लों में रहेंगे, यदि विभिन्न वर्गों के लोगों में सामाजिक समन्वय नहीं रहेगा तो फिर सामाजिक समानता की व्यावहारिक सम्भावना नहीं हो सकती। सामाजिक समानता की भावना किसी कानून द्वारा विकसित नहीं की जा सकती अपितु ऐसी भावना विभिन्न वर्गों, धर्मों एवं जातियों के लोगों के परस्पर सामंजस्य से ही उत्पन्न हो सकती है।

3. **जाति एवं धर्म को राजनीति से अलग रखा जाए (Caste and Religion should be kept separate from politics)**—राजनीतिक समानता कोई विशुद्ध आदर्श नहीं है। राजनीति और समाज के पूर्ण जीवन से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि राजनीति में धर्म एवं जाति या नस्ल का प्रयोग किया जाएगा तो राजनीतिक समाज को अनेक विरोधी वर्गों में विभक्त कर देगी। ऐसे वर्ग अपनी नस्ल, धर्म यदि जाति को श्रेष्ठ मानकर राजनीतिक शक्ति पर अपना दावा करेंगे। प्रजातन्त्रीय प्रणाली में मतों की मांग धर्म या जाति के आधार पर की जाएगी। ऐसी स्थिति में सामाजिक समानता या अस्तित्व असम्भव होगा।

4. **धर्म-निरपेक्ष राज्य (Secular State)**—राजनीति को धर्म से तभी अलग रखा जा सकता है यदि राज्य का स्वरूप धर्म-निरपेक्ष हो। इसका अभिप्राय यह है कि राज्य का कोई सरकारी धर्म नहीं होना चाहिए और राज्य के कानून किसी विशेष धर्म की शिक्षाओं या सिद्धान्तों पर आधारित नहीं होने चाहिएं। सभी लोगों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए और किसी भी धर्म के विरुद्ध प्रचार करने की आज्ञा नहीं होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में ही धार्मिक कट्टरता लोगों को अपना दास नहीं बनाएगी और लोग धार्मिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ सामाजिक समानता का आनन्द भी भोग सकेंगे।

समानता का आर्थिक पक्ष
(ECONOMIC DIMENSION OF EQUALITY)

अथवा

आर्थिक समानता
(ECONOMIC EQUALITY)

आर्थिक समानता का अर्थ (Meaning of Economic Equality)—कुछ लोग आर्थिक समानता का यह अर्थ लेते हैं कि सभी व्यक्तियों के पास समान धन और समान सम्पत्ति हो। आर्थिक समानता के सम्बन्ध में यह विचारधारा उचित नहीं है क्योंकि समान रूप में सभी व्यक्तियों के पास धन या सम्पत्ति का होना असम्भव है। ऐसी आर्थिक समानता न तो किसी देश में स्थापित हो सकती है और न ही भविष्य में हो सकेगी। आर्थिक समानता का अभिप्राय यह है कि समाज में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों

की आर्थिक स्थिति में बहुत कम अन्तर हो और किसी भी व्यक्ति को दलित वर्गों के लोगों के आर्थिक शोषण करने की आज्ञा न हो। उत्पादन के साधन कुछेक व्यक्तियों के हाथ में एकत्रित न हों और प्रत्येक देश के भौतिक साधनों का प्रयोग ऐसे ढंग से किया जाए जिससे अधिक-से-अधिक जन-कल्याण हो सके। समाज में रह रहे व्यक्तियों की प्रारम्भिक आवश्यकताएं अवश्य पूरी होनी चाहिएं और किसी भी व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक धन या सम्पत्ति एकत्रित करने की आज्ञा नहीं होनी चाहिए। प्रो० लॉस्की ने उचित कहा है कि, ''कुछ व्यक्तियों के पास फालतू धन से पहले सभी व्यक्तियों के पास आवश्यक धन अवश्य होना चाहिए।''

प्रो० लॉस्की ने ठीक कहा है कि, ''मुझे केक खाने का कोई अधिकार नहीं है यदि मेरा पड़ोसी मेरे इस अधिकार के कारण रोटी के बिना भूखा रहने के लिए विवश किया जाता है।''[2] इस प्रकार के विचार ही आर्थिक समानता को स्थापित कर सकते हैं।

आर्थिक समानता की विशेषताएं
(CHARACTERISTICS OF ECONOMIC EQUALITY)

आर्थिक समानता का अर्थ सभी को समान आर्थिक स्थिति या सभी के लिए एक-सी आय नहीं है। आर्थिक समानता के वास्तविक अर्थों को इसकी निम्नलिखित पांच विशेषताएं व्यक्त करती हैं—

1. आर्थिक विषमताओं का कम-से-कम स्तर (Minimum level of Economic Inequalities)—आर्थिक समानता का सिद्धान्त सभी व्यक्तियों के लिए एक समान आर्थिक स्थिति की कल्पना नहीं करता। इसके विपरीत यह सिद्धान्त आर्थिक विषमता (Economic Inequality) की अभिन्नता या आवश्यकता को स्वीकार करता है। कोई भी ऐसा समाज नहीं हो सकता जहां पूर्ण रूप से आर्थिक समानता हो। आर्थिक समानता का सिद्धान्त आर्थिक विषमताओं को कम करने का सिद्धान्त है। व्यक्ति-व्यक्ति की आर्थिक स्थिति में इतना बड़ा आर्थिक अन्तर न हो कि एक व्यक्ति की आर्थिक निर्बलता दूसरे व्यक्ति की आर्थिक शक्ति के लिए शोषण का कारण बन जाए। आर्थिक समानता का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि आर्थिक विषमताएं (Economic Inequality) को कम-से-कम स्तर तक लाया जाए ताकि ये विषमताएं मनुष्य-मनुष्य में भेदभाव का कारण न बन सकें।

2. मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति (Fulfilment of basic needs)—खाने के लिए भोजन, पहनने के लिए कपड़ा और रहने के लिए घर (Food, clothing and shelter) मानव जीवन की मौलिक आवश्यकताएं हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सबसे अधिक कुछ आर्थिक अधिकारों की व्यवस्था है। कार्य का अधिकार, उचित वेतन का अधिकार और आर्थिक सुरक्षा का अधिकार कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण आर्थिक अधिकार हैं जिनका व्यावहारिक अस्तित्व व्यक्ति की मौलिक आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है। इन आर्थिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त व्यक्ति की कुछ नैतिक, कलात्मक और आध्यात्मिक आवश्यकताएं भी हैं जिनकी पूर्ति मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। ये आवश्यकताएं प्रत्यक्ष रूप में आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित हैं। आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति होने के पश्चात् ही कोई व्यक्ति मनोरंजन या कलात्मक कार्यों के विषय में सोच सकता है। अतः आर्थिक समानता यह मांग भी करती है कि व्यक्ति के काम करने का अधिक-से-अधिक समय निश्चित हो और उसे इतना खाली समय अवश्य प्राप्त हो जो उसके आराम और उसके नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक है।

3. धन का उचित वितरण (Just Distribution of Wealth)— जहां धन का असमान वितरण होगा, वहां आर्थिक समानता के अस्तित्व का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होगा। धन का असमान वितरण विशाल आर्थिक विषमताओं को जन्म देता है। ऐसी विषमताएं समाज को विरोधी वर्गों में विभक्त कर देती हैं। आर्थिक समानता के लिए यह आवश्यक है कि धन कुछेक व्यक्तियों या व्यापारिक गृहों के हाथों केन्द्रित न होने दिया जाए और इस उद्देश्य के लिए कानून द्वारा धन के न्यायोचित वितरण की व्यवस्था की जाए।

4. उत्पादन के साधनों का स्वामित्व (Ownership of means of production)—उत्पादन के साधनों के वैयक्तिक एवं असीमित स्वामित्व आर्थिक समानता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। वैयक्तिक हाथों में उत्पादन के साधन श्रमिकों के शोषण का कारण बनते हैं। आर० एच० टॉनी (R. H. Tawney) ने ठीक कहा है, ''कुछ ऐसे प्राकृतिक साधन, कुछ ऐसे प्रकार की सम्पत्ति और कुछ ऐसे प्रकार के आर्थिक संगठन हैं जिनके प्रयोग पर जन-साधारण अपने कल्याण के लिए निर्भर करता है। यदि आवश्यक प

न उठाए जाएं तो इन साधनों के स्वामी अत्यधिक नियन्त्रण करेंगे और इन साधनों का प्रयोग अधिक से अधिक अपने लाभ के लिए करेंगे।"[1] अत: आर्थिक समानता यह मांग करती है कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व ऐसे रूप में हो जिससे उनका प्रयोग सम्पूर्ण समाज के कल्याण में हो सके और ये साधन किसी के शोषण का कारण न बन सकें।

5. सीमित सम्पत्ति का अधिकार (Right to limited property)—यदि असीमित (Unlimited) सम्पत्ति का अधिकार होगा तो आर्थिक समानता का अस्तित्व असम्भव होगा। आर्थिक समानता के लिए यह आवश्यक है कि सम्पत्ति की सीमा निश्चित की जाए और असीमित सम्पत्ति का अधिकार बिल्कुल न हो। सम्पत्ति की सीमा निश्चित करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाए कि किसी व्यक्ति की सम्पत्ति दूसरे के शोषण का साधन न बन सके। साधारण शब्दों में, वैयक्तिक आवश्यकताओं के लिए आवश्यक सम्पत्ति का अधिकार होना चाहिए और अनार्जित आय (Unearned Income) की आज्ञा नहीं होनी चाहिए।

राजनीतिक समानता और आर्थिक समानता
(POLITICAL EQUALITY AND ECONOMIC EQUALITY)

अथवा

''आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक समानता एक ढोंग है''
(POLITICAL EQUALITY IS A MYTH WITHOUT ECONOMIC EQUALITY)

अनेक लोकतन्त्रीय देशों की वर्तमान स्थितियां इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि व्यक्तियों को राजनीतिक स्वतन्त्रता अथवा राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने से ही साधारण जनता को सुख और आराम प्राप्त नहीं हो सका। इसके विपरीत राजनीतिक सत्ता कुछेक पूंजीपतियों के हाथों में ही केन्द्रित हुई है। राजनीतिक सत्ता उन्हीं की ही दासी है जिनके हाथ में धन, सम्पत्ति और उत्पादन के साधन हैं। जिन व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, उनके लिए राजनीतिक समानता (Political Equality) का कोई महत्त्व नहीं है। इसी कारण कहा जाता है कि आर्थिक समानता के अस्तित्व के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता एक ढोंग है। (Political equality is a myth without economic equality) इस कथन की सत्यता हमें निम्नलिखित बातों से स्पष्ट हो जाती है –

1. मताधिकार का निर्धन व्यक्ति के लिए कोई महत्त्व नहीं है (Right to vote is meaningless for a poor man)—अनेक राजनीतिक अधिकारों में से मताधिकार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, परन्तु एक निर्धन व्यक्ति की दृष्टि में रोटी की अपेक्षा इसका कोई महत्त्व नहीं है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के समर्थक मनुष्य के स्वभाव की एक मौलिक सत्यता को दृष्टिविगत करते हैं कि व्यक्ति के जीवन की मौलिक आवश्यकताएं, वोट का अधिकार और चुनाव लड़ने का अधिकार नहीं अपितु रोटी, कपड़ा और मकान (Food, Clothing and Shelter) हैं। इन मूल आवश्यकताओं को पूर्ण किये बिना व्यक्ति को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान करने का अर्थ यह है कि हम वास्तविक वस्तु की अपेक्षा उसकी परछाई को अधिक महत्त्व दे रहे हैं। एक ऐसे व्यक्ति के लिए जो आर्थिक चिन्ताओं में दबा रहता है, जिसे अपनी पारिवारिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उचित जीविका के साधन प्राप्त नहीं हैं, जो अपना खून-पसीना एक करके भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूंजीपतियों की दया-दृष्टि पर निर्भर है, मताधिकार का क्या महत्त्व हो सकता है। यह भी सम्भव नहीं है कि ऐसा व्यक्ति अपने मताधिकार का ठीक प्रयोग कर सकेगा।

2. निर्धन व्यक्ति के द्वारा मत के अधिकार के दुरुपयोग की सम्भावना (Possibility of misuse of vote by a poor person)—निर्धन व्यक्ति से न केवल मत के अधिकार का उचित प्रयोग करने की ही आशा की जा सकती है, बल्कि उसके द्वारा इसका दुरुपयोग करने की प्रत्येक सम्भावना हो सकती है। मत का ठीक प्रयोग न करना और मत का दुरुपयोग करना दो भिन्न बातें हैं। यदि एक व्यक्ति अशिक्षा के कारण उचित राजनीतिक दल के योग्य उम्मीदवार को मत नहीं देता, बल्कि अपनी धार्मिक और भाषाई भावनाओं के अधीन किसी अयोग्य व्यक्ति को मत देता है तो यह मत का ठीक प्रयोग नहीं है। इसके विपरीत अगर कोई व्यक्ति कुछ धन प्राप्त करके या किसी अन्य लालच के अधीन मत का प्रयोग करता है तो यह मत का दुरुपयोग है। निर्धन व्यक्ति के द्वारा मत का दुरुपयोग करना कोई अनहोनी या अस्वाभाविक बात नहीं है। हॉब्सन ने सत्य कहा है कि, ''भूख से मर रहे व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता का क्या महत्त्व है। वह न तो स्वतन्त्रता को खा सकता है न ही पी सकता है।''[1]

ऐसी स्थिति में आर्थिक समानता की स्थापना के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता का होना एक ढोंग या दिखावे से बढ़कर कुछ नहीं है।

3. निर्धन व्यक्ति के लिए चुनाव लड़ने का अधिकार एक कागज़ी अधिकार है (For a poor man the right to Contest Election is merely a paper right)—आर्थिक समानता की स्थापना के बिना चुनाव लड़ने का अधिकार प्रदान करना केवल दिखावे से बढ़कर कुछ भी नहीं है। साधारण व्यक्ति कभी चुनाव लड़ने का स्वप्न भी नहीं ले सकता क्योंकि वर्तमान समय के चुनावों में इतना अधिक खर्च किया जाता है कि साधारण व्यक्ति जीवन भर उतना धन कमा भी नहीं सकता। प्रत्येक समाज में पूंजीपतियों की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक होती है। यदि चुनाव लड़ने का अधिकार कुछ एक पूंजीपतियों तक सीमित होकर ही रह जाता है तो ऐसी स्थिति में राजनीतिक समानता कुछेक सम्पत्तिशाली लोगों तक ही सीमित होगी और आर्थिक कठिनाइयों में जकड़े साधारण व्यक्ति के लिए इसका कोई महत्त्व नहीं हो सकता।

1. "What good is freedom to a starving man. He — Hobson

4. आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक अधिकार व्यर्थ हैं (Political Rights are meaningless without Economic Equality)—मत देने और चुनाव लड़ने के अधिकारों के अतिरिक्त सरकारी पद प्राप्त करने, सरकार की आलोचना करने, भाषण देने और विचार व्यक्त करने, याचिका देने का अधिकार (Right to petition) आदि भी कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार हैं। आर्थिक समानता की स्थापना के बिना इन अधिकारों का कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि एक साधारण व्यक्ति के लिए अपने पारिवारिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति इन अधिकारों की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यक है। उच्च पदों को प्राप्त करने के लिए शैक्षणिक योग्यताएं और अनेक गुणों की आवश्यकता है। निर्धन व्यक्ति के बच्चे आवश्यक साधनों की कमी के कारण न तो उच्च योग्यताएं प्राप्त कर सकते हैं और न ही उनमें ऐसे गुण विकसित हो सकते हैं जो इन उच्च पदों को प्राप्त करने के लिए अति-आवश्यक हैं।

5. राजनीतिक सत्ता आर्थिक शक्ति की दासी है (Political power is the handmaid of Economic power)—इस सत्य से कौन इन्कार कर सकता है कि राजनीतिक सत्ता उन व्यक्तियों के निर्देशों पर ही नाचती है, जिनके पास धन है, सम्पत्ति है और जिसका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण है। राजनीतिक दल पूंजीपतियों की ही पूंजी होते हैं क्योंकि राजनीतिक दलों को अपने कार्यों को पूरा करने के लिए अनन्त धन की आवश्यकता होती है। निर्धन व्यक्ति राजनीतिक दलों को धन नहीं दे सकते और इस कारण राजनीतिक दल धनी व्यक्तियों के निर्देशों पर ही कार्य करते हैं। राजनीतिक दलों के प्रोग्राम निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर नहीं, अपितु उन्हें चन्दा देने वाले धनी व्यक्तियों की इच्छाओं के आधार पर बनाए जाते हैं। राजनीतिक दलों द्वारा बनाई गई सरकारें इन धनी व्यक्तियों के आदेशानुसार ऐसे कानूनों का निर्माण करती हैं, जिनका उद्देश्य धनवान् व्यक्तियों के हितों को ही पूरा करना होता है।

सरकार की आलोचना करने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होता है, परन्तु एक साधारण व्यक्ति द्वारा इसका प्रयोग करना लगभग असम्भव ही होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि सरकार की आलोचना उचित रूप में समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं और खुली सभाओं द्वारा ही की जा सकती है, पर यह सब कुछ पूंजीपतियों के नियन्त्रण के अधीन होता है। हमारे देश में कोई भी समाचार-पत्र ऐसा नहीं है, जिस पर किसी राजनीतिक दल या किसी पूंजीपति का नियन्त्रण न हो।

6. आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक समानता एक ढोंग है (Political Equality is a myth without Economic Equality)—उपर्युक्त तथ्य के सम्बन्ध में विचार करने इस कथन की पुष्टि हो जाती है,''आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक समानता एक ढोंग है।'' आर्थिक असमानताओं के अस्तित्व में केवल धनवान् व्यक्ति ही राजनीतिक समानता का लाभ उठा सकते हैं। ऐसी स्थिति में इसका प्रयोग वे अपने हितों को सुरक्षित करने और निर्धन वर्ग का शोषण करने के लिए ही करते हैं। घोर आर्थिक असमानता की स्थिति में साधारण व्यक्ति को सच्ची राजनीतिक समानता प्राप्त नहीं हो सकती। वास्तव में आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक समानता का कोई महत्त्व नहीं हो सकता। साधारण व्यक्ति के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता का भी तभी कुछ महत्त्व हो सकता है, यदि वह आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त हो। स्टालिन के कथन में सत्यता है कि ''एक बेरोजगार व्यक्ति को जिसे उसके परिश्रम का फल नहीं मिलता, जो भूखा रहता है, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता क्या हो सकती है ? सच्ची स्वतन्त्रता केवल वहीं सम्भव है जहां शोषण समाप्त कर दिया जाता है, जहां कुछ व्यक्तियों का अन्य व्यक्तियों पर अन्याय नहीं है, बेरोजगारी और कंगाली नहीं है और जहां व्यक्ति इस डर से चिन्तित नहीं है कि वह कभी भी अपनी जीविका, अपना निवास-स्थान और अपनी रोटी गंवा सकता है।''[1]

6 सामाजिक परिवर्तन
(SOCIAL CHANGE)

परिवर्तन प्रकृति का नियम है, अतः समय की गति के साथ-साथ प्रत्येक समाज में परिवर्तन होता रहता है। सामाजिक परिवर्तन की गति एवं दिशा अलग-अलग हो सकती है, किन्तु समाज में परिवर्तन अवश्य ही होता है। सामान्यतया: सामाजिक सम्बन्धों में जो परिवर्तन होता है, उसे सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा दी जाती है।

सामाजिक परिवर्तन की परिभाषाएँ (Definitions of Social Change)–सामाजिक परिवर्तन से हमारा अभिप्राय सामाजिक सम्बन्धों में आए परिवर्तनों से है। सामाजिक सम्बन्धों के विशाल दायरे में सामाजिक प्रक्रियाएँ, सामाजिक प्रतिमान और सामाजिक अन्तःक्रियाएँ सम्मिलित हैं। विभिन्न समाज शास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। इनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ हैं–

1. जॉन्स के मतानुसार, **"सामाजिक परिवर्तन एक ऐसा शब्द है, जिसका प्रयोग सामाजिक प्रक्रियाओं सामाजिक नमूनों, सामाजिक अन्तःक्रियाओं या सामाजिक संगठनों के किसी पक्ष में हुए अन्तर अथवा रूपान्तरण के वर्णन के लिए किया जाता है।"**[1]
2. गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, **"सामाजिक परिवर्तन जीवन की स्वीकृति पद्धतियों में अन्तर है। यह अन्तर भौगोलिक अवस्थाओं, सांस्कृतिक सामग्री, जनसंख्या की रचना में आए अन्तर या विचारधाराओं में आए परिवर्तन के कारण हो सकता है या यह अन्तर समूह में विस्तार या फैलाव के कारण भी हो सकता है।"**[2]
3. आर.एम. मैकाइवर के शब्दों में, **"अकेले सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन कहलाता है।"**[3]
4. किंग्सले डेविस के मतानुसार, **"सामाजिक परिवर्तन का अभिप्राय केवल उन अन्तरों से है, जो सामाजिक संगठन अर्थात समाज के ढाँचे और कार्यों में होते हैं।"**[4]
5. एम. डी. जेनसन के अनुसार, **"सामाजिक परिवर्तन को व्यक्तियों कार्य करने और विचार करने के तरीकों में रूपान्तरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"**[5]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन का अभिप्राय सामाजिक सम्बन्धों में आए महत्त्वपूर्ण अन्तरों में हैं। जब सामाजिक सम्बन्धों के किसी पक्ष में किसी भी कारण कोई अन्तर आता है, तो हम उस अन्तर को सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा देते हैं।

परिवर्तन प्रकृति का अटल नियम है, इसीलिए प्रत्येक समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है। समाज में सामाजिक सम्बन्धों का जो रूप हमें इस समय देखने को मिलता है, वह रूप 20वीं शताब्दी के आरम्भ के सामाजिक सम्बन्धों के रूप से सर्वथा भिन्न है। सामाजिक संबंधों का वर्तमान रूप भी स्थिर नहीं रहेगा, क्योंकि समय की गति के साथ-साथ इसमें परिवर्तन होना सर्वथा स्वाभाविक है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि सामाजिक परिवर्तन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो प्रत्येक समाज में जारी रहती है। सामाजिक परिवर्तन की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, जो अन्य प्रकार के परिवर्तनों की विशेषताओं से भिन्न हैं। हम सामाजिक परिवर्तन की विशेषताओं या प्रकृति का निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन कर सकते हैं–

1. **सामाजिक परिवर्तन एक प्रक्रिया है (Social Changes is a process)**–सामाजिक परिवर्तन एक ऐसी क्रिया है, जो प्रत्येक समाज में निरन्तर जारी रहती है। अतः हम यह नहीं कह सकते कि किसी विशेष समय में ही सामाजिक परिवर्तन होता है और इसके उपरान्त यह स्वयं या किसी कारणवश रुक जाता है। जब कोई घटना घटती है, तो समाज पर उसका प्रभाव कुछ समय तक ही नहीं रहता, बल्कि लम्बे समय तक रहता है। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है। जब अगस्त, 1947 में देश का विभाजन होने के कारण लाखों लोगों को अपना घर-बार छोड़ कर पाकिस्तान से भारत आना पड़ा था, तो उन लोगों को एक नवीन समाज में प्रवेश करना पड़ा था, क्योंकि उनका अपना समाज छिन्न-छिन्न हो गया था। सामाजिक परिवर्तन की यह प्रक्रिया तब तक चलती रही, जब तक कि उन लोगों ने स्वयं को नवीन वातावरण के अनुकूल नहीं ढाल लिया। इसी प्रकार वर्तमान समय में जो वैज्ञानिक विकास हो रहा है, वह सामाजिक परिवर्तन को एक नवीन दिशा और गति प्रदान कर रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया किसी विशेष समय में ही नहीं होती, बल्कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो निरन्तर चलती रहतीहै।
2. **सामाजिक परिवर्तन के अनेक कारण होते हैं (There are many factors of Social Change)**–सामाजिक परिवर्तन किसी एक कारण से नहीं होता, बल्कि इसके लिए अनेक कारण जिम्मेदार होते हैं। अन्य शब्दों में, सामाजिक परिवर्तन के लिए कोई एक कारण नहीं, बल्कि अनेक कारण जिम्मेदार होते हैं। जीव-वैज्ञानिक, भौगोलिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक आदि कारणों से समाज में परिवर्तन होता हैं। इसके अतिरिक्त, महान दार्शनिकों के विचार या नवीन विचारधाराएँ भी सामाजिक परिवर्तन का कारण बन जाते हैं।
3. **सामाजिक परिवर्तन की गति एवं सीमा समाज के स्वरूप पर निर्भर करती है (Speed and extent of Social Change depend on the nature of society)**–सभी समाजों में सामाजिक परिवर्तन की गति तथा सीमा एक-सी नहीं होती है। सामाजिक परिवर्तन होता तो सभी समाजों में है, किन्तु किसी समाज में इसकी गति बहुत धीमी होती है, तो किसी में बहुत तेज। इसका कारण यह है कि सामाजिक परिवर्तन की गति और सीमा समाज के स्वरूप पर निर्भर करती है। यदि समाज में जाति प्रथा मौजूद है; लोग अनपढ़, अन्ध-विश्वासी एवं रीति-रिवाजों को मानने वाले हैं और धार्मिक विश्वास उनके जीवन के अभिन्न अंग हैं, तो ऐसे समाज में सामाजिक परिवर्तन की गति धीमी होगी। इसके विपरीत, जहाँ लोग पढ़े-लिखे और प्रगतिशील विचारों वाले होंगे, वहाँ सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र होगी। इसी प्रकार जिस समाज में वैज्ञानिक विकास अत्यधिक होगा, वहाँ सामाजिक परिवर्तन की गति और सीमा अधिक होगी।
4. **सामाजिक परिवर्तन सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन है (Social Change is a change in social relations)**–सामाजिक परिवर्तन से अभिप्राय समाज में परिवर्तन आने से है और समाज सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन आता है, तो इसे सामाजिक परिवर्तन का नाम दिया जाता है। उदाहरण के लिए पहले भारत में संयुक्त परिवार देखने को मिलते थे, किन्तु अनेक कारणों से आधुनिक समय में पति-पत्नी और माता-पिता व बच्चों के सम्बन्धों में परिवर्तन आया है, जिसके कारण संयुक्त परिवार का स्थान पर्याप्त सीमा तक एकल परिवार ने ले लिया है। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहकर पुकारा जाता है।

5. सामाजिक परिवर्तन कोई विच्छिन्न घटना नहीं है (Social Change is not an isolated event)—सामाजिक परिवर्तन कोई ऐसी घटना नहीं है, जो विच्छिन्न रूप से होती हो, क्योंकि यह अनेक घटनाओं या परिवर्तनों से युक्त होती है। अन्य शब्दों में, सामाजिक परिवर्तन का एक इतिहास या पृष्ठभूमि होती है और यह अन्य कई व्यवस्थाओं से सम्बन्धित होता है। आर. एम. मैकाइवर के शब्दों में, "इस बात को समझने के लिए, कि सामाजिक परिवर्तन किस प्रकार होता है और यह कुछ विशेष प्रवृत्तियों को क्यों ग्रहण करता है, यह आवश्यक है कि तीन मुख्य व्यवस्थाओं के साथ इसके सम्बन्धों का विश्लेषण किया जाए। ये तीन व्यवस्थाएँ हैं—जीव-भौतिकीय, सांस्कृतिक और प्राविधिक।"

6. सामाजिक परिवर्तन अचेत घटनाओं अथवा सचेत प्रयत्नों का परिणाम हो सकता है (Social Change may be result of unconscious events or conscious efforts)—सामाजिक परिवर्तन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो ऐसी घटनाओं का भी परिणाम हो सकता है, जिनकी व्यक्ति ने कभी योजना न बनायी हो अर्थात् भयानक तूफान, भूचाल अथवा किसी बाढ़ या अन्य प्राकृतिक प्रकोप के कारण तबाही हो सकती है। ऐसी आकस्मिक घटना का सामाजिक सम्बन्धों पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त, समाज के अन्य क्षेत्रों में जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनका प्रभाव भी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया पर पड़ता है। आर. एम. मैकाइवर के मतानुसार, "यह स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो अनेक प्रकार के परिवर्तनों से प्रभावित होती है।" अचेत घटनाओं के अतिरिक्त, व्यक्ति के सचेत प्रयत्नों के द्वारा भी सामाजिक परिवर्तन हो सकता है। उदाहरण के लिए जब शिक्षा के विस्तार और लोगों को जाग्रत करने के लिए विशेष प्रयत्न किए जाते हैं, तो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया मानवीय प्रयत्नों द्वारा हो रही होती है।

7. सामाजिक परिवर्तन विकास नहीं है (Social Change is not Development)—अनेक विद्वान सामाजिक परिवर्तन और विकास को एक ही घटना समझते हैं। ऐसा सोचना उचित नहीं है, क्योंकि सामाजिक परिवर्तन और विकास में व्यापक अन्तर है। सामाजिक परिवर्तन प्रगतिशील भी हो सकता है और प्रतिक्रियावादी भी अर्थात् सामाजिक परिवर्तन सृजनात्मक और विनाशकारी दोनों ही तरह का हो सकता है। इसके विपरीत विकास सदैव सामाजिक प्रगति के लिए होता है; सामाजिक अवनति के लिए नहीं। इसके अतिरिक्त, सामाजिक परिवर्तन नियोजित भी हो सकता है और अनियोजित भी किन्तु विकास नियोजित तरीके से ही होता है। अन्य शब्दों में, सामाजिक परिवर्तन मनुष्यों के सचेत प्रयत्नों के कारण हो सकता है अथवा यह स्वयं भी हो सकता है, किन्तु विकास के लिए विशेष योजना बनायी जाती है और इस के लिए विशेष प्रयत्न किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त, विकास की धारणा का विश्लेषण भौतिक उन्नति के आधार पर किया जाता है, जब कि सामाजिक परिवर्तन में भौतिक उन्नति को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन एक निरन्तर जारी रहने वाली क्रिया है, जो व्यक्ति के अचेत या सचेत प्रयत्नों का परिणाम हो सकती है। सामाजिक परिवर्तन का अभिप्राय सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन से है और इस परिवर्तन को लाने में अनेक कारक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपनी भूमिका अभिनीत करते हैं। सामाजिक परिवर्तन कोई विच्छिन्न घटना नहीं है, बल्कि इसकी एक निश्चित पृष्ठभूमि होती है और यह कुछ घटनाओं या कारकों का परिणाम होती है और इसकी सीमा और गति समाज के स्वरूप पर निर्भर करती है।

सामाजिक परिवर्तन के मुख्य कारक (Main Factors of Social Change)

प्रकृति की तरह, समाज में घटित होने वाले सभी घटनाओं के पीछे कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। समाज शास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन के लिए अनेक कारकों (कारणों) को उत्तरदायी माना है। वस्तुतः प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन किसी एक कारक से नहीं, बल्कि अनेक कारकों के सामूहिक प्रभाव से उत्पन्न होता है। सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं—

1. **प्राकृतिक कारक (Natural Factors)**–सभी प्राकृतिक शक्तियों को भौगोलिक कारकों में गिना जा सकता है। वन, पर्वत, ऋतुएँ, नक्षत्र, झरने, समुद्र, भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि भौगोलिक कारक कहलाते हैं। मनुष्य ने प्रकृति पर विजय पाने का प्रयास किया है, फिर भी वह प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से नहीं बच पाया है। प्राकृतिक शक्तियों की लीला के परिणामस्वरूप अनेक परिवार उजड़ जाते हैं और लोग निराश्रित हो जाते हैं। 1962 में इरान में आए भूकम्प, 1957 में बिहार और उत्तर प्रदेश में आयी बाढ़ और 1977 में बांग्ला देश में आए तूफान ने लाखों लोगों को बेघर कर दिया था। इसी प्रकार हाल ही में आयी सुनामी लहरों ने मानव जाति को हिला दिया था। **बकल** तथा **हंटिंगटन** जैसे विद्वानों की मान्यता है कि किसी सभ्यता के विकास एवं विनाश के लिए जलवायु उत्तरदायी होती है। वस्तुतः सभ्यता का विकास प्राकृतिक शक्तियों पर निर्भर है। जहाँ प्रकृति का भीषण विनाशकारी रूप सामने आता है, वहाँ मनुष्य प्रकृति के सामने झुक जाता है एवं धार्मिक कार्यों में तत्पर हो जाता है। इसके विपरीत, जहाँ प्रकृति का शान्त एवं उदात्त रूप देखने को मिलता है, वहाँ लोगों का विकास हो जाता है। प्राकृतिक आपदाओं के कारण लोग उजड़ जाते हैं; अन्य स्थानों पर बसने लगते हैं और नवीन सभ्यता, संस्कृति, रीति-रिवाज़ों, मूल्यों, आदर्शों को अपनाने लगते हैं। इससे सामाजिक संरचना, मूल्यों तथा विश्वासों में परिवर्तन आ जाता है। इसके विपरीत, प्राकृतिक आपदाओं के अभाव में लोग सुखपूर्वक जीते हैं; सामाजिक व्यवस्था में भी कोई हलचल नहीं होती है और सब कुछ सुचारु एवं सुव्यवस्थित रूप से चलता रहता है। स्पष्ट है कि प्राकृतिक कारक समाज की संरचना को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं।

2. **आर्थिक कारक (Economic Factors)**–सामाजिक परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण कारण आर्थिक कारक है। इस सम्बन्ध में **बीयरस्टीड** का मत है, **"निःसन्देह आर्थिक कारक सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।"** **कार्ल मार्क्स** ने सामाजिक परिवर्तन के लिए आर्थिक कारकों को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना है। सम्पत्ति का वितरण, व्यवसाय की प्रकृति, उत्पादन प्रणाली का रूप आदि बातें सामाजिक संरचना को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। मार्क्स की दृष्टि में आर्थिक ढाँचा ही समाज का आधार होता है, अतः आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन आने पर सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था बदल जाती है। मार्क्स के मतानुसार, उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व की दृष्टि से प्रत्येक समाज में दो वर्ग पाए जाते हैं–धनी वर्ग एवं निर्धन वर्ग और ये दोनों वर्ग सदैव संघर्षरत रहते हैं, क्योंकि इनके हित परस्पर-विरोधी होते हैं। इसके परिणामस्वरूप एक सामाजिक व्यवस्था नष्ट होती है और उसके स्थान पर दूसरी सामाजिक व्यवस्था जन्म लेती है। जब कोई समाज पूँजीवादी व्यवस्था को छोड़कर समाजवादी व्यवस्था अपना लेता है, तो उसी के अनुरूप नई सामाजिक व्यवस्था अस्तित्व में आ जाती है।

3. **मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological Factors)**–सामाजिक परिवर्तन मनोवैज्ञानिक कारणों से भी होता है अर्थात् सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन मानव की सोच में आए परिवर्तन के कारण भी होता है। मानसिक असन्तोष एवं संघर्ष सामाजिक सम्बन्धों को व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं। परिवार के सदस्यों या पति-पत्नी का मानसिक धरातल पर एक न हो पाना, पारिवारिक विघटन एवं विवाह-विच्छेद का कारण बन जाता है। विकृत मानसिकता सामाजिक सम्बन्धों को विघटित कर देती है। दूसरी ओर मानव में जिज्ञासु प्रवृत्ति भी पायी जाती है। जिज्ञासा के कारण ही मानव उत्तरोत्तर उन्नति के शिखर पर पहुँचा है। इसी प्रवृत्ति के कारण मानव चन्द्रमा की ऊँचाई, समुद्र की गहराई नाप पाया है। मानव मस्तिष्क चिर स्थिति में नहीं रहता है, अतः वह नए-नए आविष्कारों की खोज में लगा रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि मानव मस्तिष्क में सकारात्मक तथा नकारात्मक परिवर्तन होते रहते हैं, जिनके परिणामस्वरूप मानव की मानसिकता में बदलाव आता है और इसी के अनुरूप सामाजिक परिवर्तन हो जाता है।

4. **जीव वैज्ञानिक कारक (Biological Factors)**–डार्विन के मतानुसार सामाजिक परिवर्तन में जीव वैज्ञानिक कारण महत्त्वपूर्ण भूमिका अभिनीत करते हैं। जीव वैज्ञानिक कारकों से अभिप्राय ऐसे कारकों से है, जो व्यक्ति को माता-पिता से वंशानुक्रम में प्राप्त होते हैं। शारीरिक एवं मानसिक क्षमता, प्रजनन दर, विवाह, आयु आदि बातें जीव वैज्ञानिक कारकों से प्रभावित होती हैं। यदि समाज में पुरुषों की मृत्यु-दर अधिक होगी, तो विधवाओं की संख्या में वृद्धि होगी, जिसके कारण स्त्रियों की सामाजिक स्थिति और बच्चों की शिक्षा-दीक्षा भी प्रभावित होगी। दुर्बल एवं अशक्त लोग समाज के नव-निर्माण में सर्वथा असमर्थ होते हैं। इसके विपरीत, प्रतिभाशाली व्यक्ति

आविष्कारों के द्वारा समाज में परिवर्तन लाने में सक्षम होते हैं। सामान्यतः यह माना जाता है कि अन्तर्जातीय तथा अन्तर्प्रजातीय विवाह से प्रतिभाशाली सन्तान जन्म लेती है, जो वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाने में सशक्त होती है।

5. **जनसंख्यात्मक कारक (Demographic Factors)**—सामाजिक परिवर्तन लाने में जनसंख्यात्मक कारक का भी योगदान होता है। जनसंख्या की रचना, न्यूनाधिक आकार, जन्म व मृत्यु दर, देशान्तर-गमन आदि जनसंख्यात्मक कारक माने जाते हैं। यदि किसी देश में जन्म-दर अधिक है, तो वहाँ जनसंख्या अधिक होगी और यदि मृत्यु-दर अधिक है, तो वहाँ जनसंख्या घटेगी। इसी प्रकार अधिक देशान्तर-गमन होने पर जनसंख्या घटेगी तथा देश में विदेशियों के अधिक आगमन से जनसंख्या बढ़ेगी। देशान्तर-गमन से संस्कृति का आदान-प्रदान होता है। कई बार सांस्कृतिक आदान-प्रदान संघर्ष को जन्म देता है। जनसंख्या की अप्रत्याशित वृद्धि अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याओं को जन्म देती है; जैसे—भुखमरी की समस्या, बेरोजगारी की समस्या व गरीबी की समस्या। डार्विन का मत है कि जनसंख्या बढ़ने पर लोगों में जीवन के लिए संघर्ष बढ़ता है और इस संघर्ष में शक्तिशाली लोग सफल रहते हैं। जनसंख्या-वृद्धि युद्धों को भी जन्म देती है। दोनों विश्व-युद्धों के लिए जनसंख्या वृद्धि भी एक कारण था। इसके विपरीत, जनसंख्या घटने पर कर्मठ व सक्षम लोगों की कमी हो जाती है, जिसके कारण उपलब्ध संसाधनों का ठीक से उपयोग नहीं हो पाता है। स्पष्ट है कि जनसंख्यात्मक कारक सामाजिक परिवर्तन लाने में भूमिका निभाते हैं।

6. **प्रौद्योगिक कारक (Technological Factors)**—आधुनिक युग में सामाजिक परिवर्तन लाने में प्रौद्योगिकी एक महत्त्वपूर्ण कारक बन गया है। यद्यपि प्रौद्योगिक कारक को सांस्कृतिक कारक में शामिल किया जा सकता है, किन्तु इसके विशेष महत्त्व के कारण प्रौद्योगिक कारक का पृथक् उल्लेख किया जाना आवश्यक है। प्रौद्योगिकी के महत्त्व के कारण ही आधुनिक युग को प्रौद्योगिकी का युग कहा जाता हैं। विविध प्रकार के यन्त्रों का आविष्कार सामाजिक जीवन को किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही प्रभावित करता है। **स्पाइसर** का मत है कि छोटे यन्त्रों के प्रयोग से अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। स्त्रियों के कार चलाने व घरेलू उपकरणों के प्रयोग करने, तथा इनकी गतिविधियों में तेजी से पारिवारिक जीवन प्रभावित हुआ है। भारत में नित नए कल-कारखानों के खुलने से जाति प्रथा एवं संयुक्त परिवार प्रणाली का विघटन हुआ है तथा स्त्री-स्वतन्त्रता में वृद्धि हुई है। **मैकाइवर** का कहना है कि भाप के इंजन के आविष्कार ने सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन को आशातीत रूप से प्रभावित किया था। **ममफोर्ड** का मत है कि मशीनीकरण ने मानव जीवन-शैली एवं विचार-प्रणाली को पूरी तरह प्रभावित किया है। आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था, औद्योगिकीकरण एवं नगरीकरण के लिए प्रौद्योगिकी बहुत अधिक उत्तरदायी है। पूँजीवादी व्यवस्था, औद्योगिकीकरण व नगरीकरण के कारण सामाजिक सम्बन्धों में औपचारिकता आयी है; धर्म का प्रभाव घटा है; अपराध एवं संघर्ष में वृद्धि हुई है; मनोरंजन का व्यापारीकरण हुआ है तथा जीवन के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण पनपा है।

7. **सांस्कृतिक कारक (Cultural Factors)**—सामाजिक परिवर्तन के लिए सांस्कृतिक कारक भी उत्तरदायी होते हैं। संस्कृति के भौतिक तथा अभौतिक दोनों ही पक्ष सांस्कृतिक कारकों में सम्मिलित होते हैं। प्राचीन प्रथाओं, कानूनों, नैतिकता आदि के अर्थहीन हो जाने पर इनका स्थान नवीन प्रथाएँ, नवीन कानून व नवीन नैतिकता ले लेते हैं। वर्तमान समय में जाति प्रथा, विधवा विवाह निषेध जैसी प्रवृत्तियाँ कमजोर होती जा रही हैं। अब विवाह एक सामाजिक समझौता (Contract) बन कर रह गया है; विधवाओं को पुनर्विवाह की स्वीकृति मिल गयी है और लिव-इन (Live-in) सम्बन्ध विकसित होते जा रहे हैं। अमेरिकी समाज शास्त्री **ऑगबर्न** का मत है कि अभौतिक संस्कृति की तुलना में भौतिक संस्कृति अर्थात सभ्यता शीघ्र परिवर्तित होती है। इससे भौतिक संस्कृति की तुलना में अभौतिक संस्कृति पिछड़ जाती है। यह स्थिति सामाजिक परिवर्तन को अत्यधिक प्रभावित करती है। प्रस्तुत सन्दर्भ में मूर का मत अधिक युक्तिसंगत लगता है। उसका कहना है कि सांस्कृतिक कारक समाज में तीन प्रकार से परिवर्तन लाते हैं—

(i) इनके कारण सांस्कृतिक संघर्ष (Cultural Conflict) की स्थिति बनी रहती है, जिसमें शक्तिशाली संस्कृति कमजोर संस्कृति पर अपना प्रभुत्व जमा लेती है। इसके परिणामस्वरूप कमजोर संस्कृति को शक्तिशाली संस्कृति के तत्त्वों को अपनाना पड़ता है।

(ii) इनके कारण सांस्कृतिक प्रचार (Cultural Propaganda) होता है, जिसके अन्तर्गत कुछ सामाजिक समूह दूसरे सामाजिक समूहों में घुल-मिल जाते हैं और उन समूहों की संरचना को प्रभावित करते हैं।

(iii) इनके कारण पर-संस्कृति ग्रहण (Adoption of Other Cultures) होता है, जिसमें दो संस्कृतियों का मेल होने पर एक संस्कृति दूसरी संस्कृति पर छा जाती है। इस स्थिति में पर-संस्कृति ग्रहण करने वाले समूह की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन आता है।

8. **वैचारिक कारक (Ideological Factors)**–सामाजिक परिवर्तन लाने वाले कारकों में वैचारिक कारक का भी योगदान होता है। जब व्यक्तियों के विचारों में परिवर्तन आता है अर्थात विचारधाराएँ बदलने लगती हैं, तो सामाजिक प्रथाओं व सामाजिक संस्थाओं में भी परिवर्तन आने लगता है। इससे समाज में नए परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए उदारवादी विचारधारा के अन्तर्गत जिस प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध विकसित होते हैं, वे साम्यवादी विचारधारा के प्रादुर्भाव के कारण बदलने लगते हैं और इससे अन्ततः एक नवीन किस्म के समाज का उदय होता है। इसी प्रकार धार्मिक कट्टरवाद (Fundamentalism) एक नई सामाजिक व्यवस्था को जन्म देता है।

9. **राजनीतिक कारक (Political Factors)**–राजनीतिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन लाने में भूमिका अभिनीत करते हैं। ऐसा माना जाता है कि इतिहास अतीत कालीन राजनीति और राजनीति वर्तमान कालीन इतिहास होता है। प्राचीन समय में राजवंशों में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव उनके द्वारा शासित समाज पर पड़ता था। अन्य शब्दों में, सत्ता परिवर्तित होने पर समाज में अनेक परिवर्तन हो जाते थे। प्रत्येक राजनीतिक दल की अपनी विशिष्ट नीति होती है, अतः एक राजनीतिक दल के स्थान पर दूसरे दल के सत्ता में आने पर सामाजिक परिवर्तन आना स्वाभाविक हो जाता है। भारत में अंग्रेजों के सत्ता छोड़कर चले जाने के बाद गठित कांग्रेसी सरकार ने अपनी नीतियों के आधार पर विभिन्न सुधार कार्य किए। इसने जागीरदारी और बेगार प्रथा को समाप्त किया; बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया और ग्रामीण विकास के लिए अनेक कदम उठाए। स्पष्ट है कि राजनीतिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन का कारण बनते हैं। **बीयरस्टीड** (Bierstedt) के शब्दों में, **"कई लेखकों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन युद्धों, छिट-पुट लड़ाइयों, विजय और पराजय तथा वंशों और महा युद्धों की कहानी है।"** वस्तुतः कुछ समय पूर्व इतिहास का लेखन-कार्य सैन्य शक्ति के आधार पर ही किया जाता था। इस प्रकार युद्धों की कहानियाँ ही सामाजिक परिवर्तन की कहानियाँ बन जाती हैं। युद्धों के कारण समाज में अनेक परिवर्तन आते हैं; जैसे–शरणार्थी अन्यत्र जाकर बस जाते हैं और उस स्थान की संस्कृति को अपना लेते हैं। युद्धों के कारण सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था समूल नष्ट हो जाती है और अपराध पनपते हैं। स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन पर युद्ध एवं सैनिक शक्ति का पूरा प्रभाव पड़ता हैं।

10. **महा पुरूषों की भूमिका (Role of Great Personalities)**–सामाजिक परिवर्तन लाने में महा पुरुषों की भी भूमिका होती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि समाज महा पुरुषों के प्रभाव से कभी भी मुक्त नहीं रहा, समाज में जितने भी आन्दोलन हुए हैं, वे किसी-न-किसी महा पुरुष के नेतृत्व में ही हुए। समाज को परिवर्तित करने में अनेक महा पुरुषों ने योगदान दिया है, जिनमें गाँधी, लेनिन व माओ के नाम शीर्षस्थ हैं। अछूतोद्धार के लिए महात्मा गाँधी का अमूल्य योगदान रहा है। भारतीय विदेश नीति में तटस्थता की नीति का अनुकरण पण्डित नेहरू की देन है। भारतीय समाज में सुधार के लिए राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द व स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रयास प्रशंसनीय हैं। 'बीस-सूत्री कार्यक्रम' तथा 'गरीबी हटाओ' कार्यक्रमों के माध्यम से इन्दिरा गाँधी ने भारतीय समाज में परिवर्तन के अथक प्रयास किए थे।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन एक जटिल घटना है। इसका विवेचन किसी एक कारक के सन्दर्भ में सम्भव नहीं है। इसीलिए इसके विश्लेषण के लिए अनेक कारकों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

सामाजिक परिवर्तन के मुख्य सिद्धांत
(Main Theories of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन से हमारा अभिप्राय: होता है--सामाजिक सम्बन्धों में आने वाला परिवर्तन। इस विषय में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि सामाजिक परिवर्तन क्यों और कैसे होता है। यह एक अत्यन्त कठिन प्रश्न है और इस प्रश्न का उत्तर अनेक समाज शास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से दिया है। इन लोगों के ये उत्तर ही सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख सिद्धांत माने जाते हैं। सामाजिक परिवर्तन-सम्बन्धी कुछ प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं--

1. पतन का सिद्धांत (Theory of Deterioration)–कुछ समाज शास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन को पतन का प्रतीक माना है। इनके मतानुसार आरम्भ में मानव पूर्ण प्रसन्नता की अवस्था में रहता है, किन्तु कुछ समय के पश्चात् इस अवस्था का अन्त होना आरम्भ हुआ, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति पतन की ओर बढ़ता चला गया। मनुष्य का यह पतन निरन्तर चल रहा है और इस पतन के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन भी जारी है। अपने इस सिद्धांत के समर्थन में ये विचारक मिथ्या दन्त कथाओं का सहारा लेते हैं। हिन्दू परम्परा के अनुसार मनुष्य चार युगों से होकर निकला है। ये चार युग हैं–सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग। सतयुग इन सभी युगों में सर्वोत्तम था। इस युग में मनुष्य बड़ा ईमानदार, सत्यनिष्ठ और नि:स्वार्थी था। इसके पश्चात् मनुष्य का पतन होना आरम्भ हुआ और उसे त्रेता व द्वापर युगों से गुजरना पड़ा। वर्तमान समय में कलियुग जारी है और इस युग का मनुष्य बेईमान, धोखेबाज, झूठा, स्वार्थी और दु:खी है। संक्षेप में, पतन के सिद्धांत के समर्थकों का यह मत है कि समय की गति के साथ-साथ समाज का जो पतन हो रहा है, वही सामाजिक परिवर्तन कहलाता है।

2. चक्रीय सिद्धांत (Cyclic Theory)–आधुनिक समाज शास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन के विषय में चक्र का सिद्धांत प्रस्तुत किया है। इन विचारकों में **स्पेंगलर, पेरेटो, सोरोकिन** और **टॉयनबी** के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन विचारकों का मत यह है कि जिस प्रकार दिन और रात का चक्र चलता रहता है, उसी प्रकार समाज का भी चक्र चलता रहता है। समाज के इस चक्र में, समाज का जन्म, विकास और पतन शामिल हैं। एक अन्य समाज शास्त्री **जे. बी.बरी** ने भी इस मत का समर्थन किया है। उसने मिस्र, रोम और यूनान की सभ्यताओं का विश्लेषण करके यह परिणाम निकाला है कि चक्र के इस सिद्धांत के कारण ही इन सभ्यताओं का पतन हुआ था। **स्टुअर्ट चैम्पियन** नाम के एक अन्य समाज शास्त्री का विचार है कि विकास और पतन गतिशील सामाजिक तथ्य हैं और कोई भी शक्ति समाज के विकास और पतन को नहीं रोक सकती है। **सोरोकिन** का मत है कि जब समाज समस्त अवस्थाओं से गुजर जाता है, तो वह अपने गौरव के शिखर को छू लेता है। जब समाज इस अवस्था तक पहुँच जाता है, तो इसके बाद उसका पतन आरम्भ हो जाता है। गौरव के शिखर पर पहुँचना और इसके बाद पतन की ओर बढ़ना इस चक्र का प्रतीक है। कहने का अभिप्राय यह है कि सामाजिक चक्र निरन्तर चलता रहता है और समाज का जन्म, विकास और पतन इसी चक्र के चरण हैं।

3. अवस्था सिद्धांत (Stages Theory)–कुछ समाज शास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन के बारे में यह मत प्रस्तुत किया है कि समाज धीरे-धीरे सभ्यता के उच्च स्तर की ओर बढ़ रहा है। अन्य शब्दों में, समाज सुधार की दिशा में बढ़ता जा रहा है और इस विकास-क्रम में समाज को कई अवस्थाओं से गुजरना पड़ा है। **ऑगस्ट कॉम्टे** का विचार है कि समाज तीन अवस्थाओं से होकर गुजरा है। **प्रथम अवस्था** वह थी, जब व्यक्ति दैवीय शक्तियों पर विश्वास करते थे और यह अनुभव करते थे कि दैवीय शक्तियाँ ही उनके सामाजिक व्यवहार को नियन्त्रित करती हैं। द्वितीय अवस्था में व्यक्तियों ने दैवीय शक्तियों के प्रति अपने विचार बदले और विद्वानों ने सामाजिक व्यवहार का निरपेक्ष विचारों के आधार पर वर्णन करना आरम्भ कर दिया अर्थात् इन लोगों ने यह अनुभव किया कि कई निरपेक्ष विचार उनके व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। कॉम्टे का विचार है कि वर्तमान अवस्था समाज की तृतीय अवस्था है, जिसे सकारात्मक अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था में सामाजिक व्यवहार को नियन्त्रित करने वाली शक्तियों के विषय में वैज्ञानिक ढंग से विचार किया जाता है।

4. **निश्चयवादी सिद्धांत (Deterministic Theory)**—निश्चयवादी सिद्धांत के समर्थकों का मत है कि सामाजिक परिवर्तन लाने में कुछ विशेष शक्तियाँ भूमिका अभिनीत करती हैं। **कार्ल मार्क्स** का विचार है कि आर्थिक दशाएँ सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख निर्धारक तत्व होती है। उसका मत है कि जब उत्पादन एवं वितरण प्रणाली में कोई परिवर्तन होता है, तो उसके अनुरूप सामाजिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन आ जाता है। उसका यह दृढ़ विश्वास है कि समाज में निरन्तर वर्ग-संघर्ष चल रहा है और इस संघर्ष में धनी वर्ग, निर्धन वर्ग का शोषण कर रहा है और समाज निरन्तर एक ऐसी दिशा की ओर बढ़ रहा है, जिसमें समाज न तो वर्ग-विभेदीकृत होगा और इस नाते न ही कोई वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करेगा। मार्क्स के मतानुसार जब समाज एक प्रकार की आर्थिक प्रणाली को छोड़कर दूसरे प्रकार की आर्थिक प्रणाली ग्रहण करता है, तो इसके कारण सामाजिक परिवर्तन अवश्य होता है। संक्षेप में, कार्ल मार्क्स के विचारानुसार सामाजिक परिवर्तन का कारण अर्थव्यवस्था में आने वाला परिवर्तन है।
5. **धर्म का सिद्धांत (Theory of Religion)**—अनेक समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन के विषय में कार्ल मार्क्स के विचारों को स्वीकार नहीं करते हैं। इनके मतानुसार सामाजिक परिवर्तन लाने में आर्थिक तत्व अवश्य ही प्रभावशाली भूमिका अभिनीत करता है, किन्तु आर्थिक तत्व के अतिरिक्त और भी कई तत्व हैं, जो सामाजिक परिवर्तन का कारण बनते हैं। **मैक्स वेबर** के मतानुसार सामाजिक परिवर्तन लाने में धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अपने इस विचार की पुष्टि के लिए वह कहता है कि ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म के अस्तित्व में आने से हिन्दू धर्म में कई उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। संक्षेप में, कुछ समाज शास्त्री यह मानते हैं कि धर्म सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।
6. **व्यवस्थित प्रयत्नों का सिद्धांत (Theory of Systematic Efforts)**—इस सिद्धांत के समर्थकों का विचार है कि सामाजिक परिवर्तन स्वतः नहीं होता, बल्कि इसके लिए विशेष प्रयत्न किए जाते हैं। इस सिद्धांत के समर्थकों में **लुडविंग स्टीन** और **हॉब्सहाऊस** के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों का मत है कि न तो भौतिक और न ही गैर-भौतिक कारक समाज में परिवर्तन ला सकते हैं, क्योंकि सामाजिक परिवर्तन के लिए व्यवस्थित प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। ऐसे प्रयत्नों में शिक्षा का प्रसार और लोगों को नवीन विचारों के प्रति जाग्रत करने के प्रयत्न सम्मिलित हैं।

जहाँ तक सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांतों का प्रश्न है, हम इनके विषय में यह कह सकते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक युग में न तो पतन का सिद्धांत और न चक्रीय सिद्धांत स्वीकार किया जा सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में मानव बुद्धि यह कभी स्वीकार नहीं कर सकती कि धीरे-धीरे समाज पतन की ओर अग्रसर हो रहा है। जहाँ तक अवस्था सिद्धांत का प्रश्न है, यह सिद्धांत सामाजिक परिवर्तन का नहीं, बल्कि सामाजिक विकास का सिद्धांत प्रतीत होता है। सत्य तो यह है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए अनेक कारक जिम्मेवार हैं। ऐसे कारकों में आर्थिक कारकों के अतिरिक्त, धर्म भी महत्त्वपूर्ण है। वैज्ञानिक विकास, नवीन विचारधाराओं का अभ्युदय, आर्थिक कारक और समाज सुधारकों द्वारा किए गए प्रयत्न सामाजिक परिवर्तन की क्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

7 विकास की धारणा एवं सिद्धान्त (CONCEPT AND THEORIES OF DEVELOPMENT)

विश्व के विकसित देशों ने मनुष्यों की अनिवार्य आवश्यकताओं—रोटी, कपड़ा, मकान की समस्या को काफ़ी हद तक हल कर लिया है। इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया आदि विकसित देशों में अब संघर्ष जीवन स्तर को ऊंचा उठाने तथा व्यक्ति को अधिक-से-अधिक सुविधाएं व विलासिता की वस्तुएं उपलब्ध कराने के लिए हो रहा है। दूसरी ओर एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के वे देश हैं जो एक लम्बे समय तक गुलाम रहे और साम्राज्यवादी शक्तियां इनका शोषण करती रहीं। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् लेटिन अमेरिका, एशिया तथा अफ्रीका के उपनिवेश धीरे-धीरे स्वाधीनता प्राप्त करते गए। एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के नवजात देशों को 'तीसरी दुनिया' (Third World) कहा जाने लगा। क्योंकि एक दुनिया उन देशों की थी जो अमेरिकन गुट में शामिल थे और दूसरी दुनिया के देश साम्यवादी रूस के गुट में शामिल थे। 'तीसरी दुनिया' के देशों को विकासशील देश तथा उभरते हुए राष्ट्र भी कहा जाता है। सोवियत संघ (साम्यवादी रूस) के विघटन के पश्चात् विश्व अब एक ध्रुवीय (Unipolar) बन गया है। अत: अब तीसरी दुनिया जैसे शब्दों की प्रासंगिकता समाप्त हो गई है। अब विश्व के देशों को विकास के आधार पर प्राय: तीन भागों में बांटा जाता है—विकसित देश (Developed Countries), विकासशील देश (Developing Countries) तथा अल्पविकसित देश (Under-Developed Countries)। विकासशील तथा अल्पविकसित देशों की समस्याओं तथा उनके विकास का पिछले तीस वर्षों से विशेष रूप से अध्ययन किया जा रहा है। इन देशों के विकास के लिए विभिन्न प्रतिमान (Models) दिए गए हैं।

विकास का अर्थ एवं परिभाषाएँ (MEANING AND DEFINITIONS OF DEVELOPMENT)

विकास एक सार्वभौमिक एवं निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। यह एक व्यापक अवधारणा है जिसको विभिन्न संदर्भों में विभिन्न अर्थों में इस्तेमाल किया जाता है। वर्तमान भौतिकवादी युग में व्यक्ति व समाज के विकास की अवधारणा का अर्थ प्राय: आर्थिक विकास से ही लिया जाता है। विश्व की दो वर्तमान प्रमुख विचारधाराएं—पूंजीवाद व साम्यवाद मूल रूप से भौतिकवादी विचारधाराएं हैं। साम्यवादी विचारधारा अपने अन्तर्विरोध के कारण नष्ट होती जा रही है और पूंजीवादी विचारधारा अपने स्वयं के बोझ से दबकर नष्ट हो जाने के कगार पर खड़ी है परन्तु मनुष्य केवल भौतिक प्राणी नहीं है। मनुष्य में मन, बुद्धि तथा आत्मा होती है। मनुष्य उच्च आदर्शों व मूल्यों के लिए कष्ट भरा जीवन भी व्यतीत करना पसन्द करता है, मनुष्य भौतिक सुख से ऊपर उठकर आध्यात्मिक सुख प्राप्त करना चाहता है। भौतिक सुख क्षणभर के लिए होता है जबकि आध्यात्मिक सुख चिरस्थायी होता है। भारतवासियों के लिए विशेषकर हिन्दुओं के लिए भौतिक समृद्धि जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। भारतवासी आध्यात्मिक विकास व आत्मा की शान्ति को अधिक महत्त्व देते हैं। भारत में विकास के आध्यात्मिक स्वरूप को ही व्यक्ति का आदर्श माना गया है परन्तु पिछले हजार वर्षों की गुलामी के कारण साम्राज्यवाद के प्रभाव के कारण भारतवासी आध्यात्मिक विकास के लक्ष्य से दूर होते जा रहे हैं। भारतीय भी भौतिक समृद्धि की ओर आकर्षित होने लगे हैं और भारत में भी विकास से तात्पर्य भौतिक विकास माना जाने लगा है।

विकास की परिभाषा (Definition of Development)—विकास की एक निश्चित परिभाषा देना, जिस पर सभी विद्वान सहमत हों, अति कठिन कार्य है। ब्रांट आयोग (Brandt Commission) ने टिप्पणी करते हुए ठीक ही कहा है कि "विकास की सार्वभौमिक संतोषजनक परिभाषा न तो दी जा सकती है और न कोई दे सकता है।" कुछ विद्वानों के अनुसार विकास का अर्थ है—राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में समृद्धि। कुछ विचारकों के अनुसार इसका अभिप्राय है—सामाजिक विकास एवं कुछ अन्य के लिए आधुनिकीकरण ही विकास है।

विकास की अवधारणा की बहुत-सी परिभाषाएँ हैं। भिन्न-भिन्न होते हुए भी ये परिभाषाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। ईस्मन (Esman) का मत है, "जिस प्रकार सैनिक या इंजीनियरिंग कार्यों को व्यवस्थित और लागू किया जाता है उसी प्रकार अच्छी तरह

सोच समझ कर बनाए गए कार्यक्रमों या परियोजनाओं को व्यवस्थित तथा कार्यान्वयन करने की तर्क पूर्ण प्रक्रिया को 'विकास' कहा जाता है।'' कौम (Colm) और ग्रीगर (Greiger) संवृद्धि वाले परिवर्तन को विकास समझते हैं। वीडनर (Weidner) के विचारानुसार ''जब किसी प्रक्रिया के द्वारा राष्ट्र निर्माण और सामाजिक आर्थिक उन्नति होती है तब उस संवृद्धि की प्रक्रिया को विकास कहा जाता है।''

मैकेंजी (Mackenzi) के अनुसार, ''विकास समाज में उच्चस्तरीय अनुकूलन के प्रति अनुकूल होने की क्षमता है।''[1]

विलियम चैम्बर्स (William Chambers) के अनुसार, ''विकास को एक ऐसी आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था की ओर अग्रसर समझा जा सकता है जिसमें उन समस्याओं का समाधान ढूंढने की क्षमता हो जिनका उसे सामना करना पड़ता है। उसमें संरचनाओं का निवेदन और कार्यों की विशिष्टता होती है।''[2]

एलफ्रेड डायमेन्ट (Alfred Diamant) के अनुसार, ''राजनीति विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक राजनीतिक व्यवस्था के नए प्रकार के लक्ष्यों को निरन्तर सफल रूप में प्राप्त करने की क्षमता बनी रहती है।''

चुतर्वेदी (Chaturvedi) के अनुसार, ''विकास एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज के उद्देश्यों को प्राप्त किया जाता है। विकास का उद्देश्य है—एक प्राचीन एवं पिछड़ी हुई व्यवस्था को आधुनिक व्यवस्था में बदलना।''

लूसियन पाई (Lucian Pye) के अनुसार, ''राजनीतिक विकास संस्कृति का वितरण और जीवन के प्रतिमानों के नए भागों के अनुकूल बनाना, उन्हें उनके साथ मिलाना या उनके साथ सामंजस्य बिठाना है।''

विकास राजनीतिक संरचनाओं की अभिवृद्धि, विभिन्नीकरण और विशेषकरण तथा राजनीतिक संस्कृति का बढ़ा हुआ लौकिकरण है।

रिग्स (Riggs) ने विकास की विस्तृत परिभाषा दी है। उसके अनुसार ''विकास का सम्बन्ध उत्पाद (Output) को बढ़ाने या न बढ़ाने, प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने या न बढ़ाने के निर्णय की क्षमता से है अथवा अपनी शक्ति उद्देश्यों को प्राप्त करने या उपलब्ध सामग्री के अधिक न्यायपूर्ण वितरण में, सौन्दर्य सम्बन्धी या फिर आध्यात्मिक मूल्यों में, या भिन्न-भिन्न उत्पादों की गुणवत्ता को बढ़ाने में अपनी शक्ति को लगाना विकास है।''

विकास की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विकास एक बहुपक्षीय प्रक्रिया है, जिसमें ढांचों (Structures) में, दृष्टिकोणों और संस्थाओं में परिवर्तन, आर्थिक सम्पदा में वृद्धि, असमानताओं में कमी और निर्धनता का उन्मूलन शामिल है। परम्परागत समाज से आधुनिक विकसित समाज में परिवर्तन करने की प्रक्रिया को विकास कहते हैं।

विकास की पकति

विकास के विभिन्न पक्ष
(DIFFERENT DIMENSIONS OF DEVELOPMENT)

विकास एक गतिशील एवं बहुपक्षीय प्रक्रिया है। मनुष्य जीवन के कई पहलु हैं जैसे कि सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक। मानव जीवन के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसका चहुंमुखी विकास हो। समुचित विकास के बिना मानव जीवन तथा राज्य को विकसित नहीं माना जा सकता। विकास के मुख्य तीन पक्ष होते हैं जो कि निम्नलिखित हैं—

(1) आर्थिक विकास

(2) सामाजिक विकास

(3) राजनीतिक विकास।

1. आर्थिक विकास (Economic Development)—आर्थिक विकास समाज के आर्थिक जीवन से सम्बन्धित होता है। कुछ विद्वानों ने आर्थिक विकास का अर्थ कुल राष्ट्रीय आय में वृद्धि से तथा कुछ विद्वानों ने प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि से लिया है। कुछ विद्वान् आर्थिक कल्याण (Economic Welfare) को ही आर्थिक हित मानते हैं। अनेक आधुनिक विद्वानों ने विकास का अर्थ आर्थिक विकास से लिया है। आर्थिक विकास का उद्देश्य केवल राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना या प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि करना ही नहीं होता बल्कि उत्पादन की प्रणालियों का आधुनिकीकरण करना तथा रोज़गार के अवसरों में वृद्धि करना, उद्योगों का विकास करना, आर्थिक असमानताओं को कम करना, विज्ञान व टैक्नोलोजी का विकास करना, प्राकृतिक साधनों का उचित इस्तेमाल करना इत्यादि होता है। आर्थिक विकास में व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण नहीं किया जाएगा और प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। आर्थिक विकास से समाज में समृद्धि और खुशहाली पाई जाती है।

2. सामाजिक विकास (Social Development)—वर्तमान समाज पुराने समाज से अलग है और वर्तमान समाज में भी निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। मानव जीवन के विकास के लिए देश का आर्थिक विकास होना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि सामाजिक विकास होना भी आवश्यक है। सामाजिक विकास में सामाजिक बुराइयों का अन्त, सामाजिक समानता की स्थापना, मानवीय भेदभाव समाप्त करना, स्तर की समानता, सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि इत्यादि शामिल है।

3. राजनीतिक विकास (Political Development)—विकास की धारणा का अर्थ प्रायः राजनीतिक विकास से लिया जाता है। राजनीतिक विकास के स्वरूप के बारे में काफ़ी अस्पष्टता है। राजनीतिक विकास में तर्कवाद, धर्म-निरपेक्षीकरण, व्यापक जन सहभागिता इत्यादि शामिल होते हैं। राजनीतिक विकास के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किए हैं। इन विद्वानों में लूसियन पाई, आलमण्ड एवं पावेल, कैंथ, आरगेंस्की, जान एच० क्रांटस्की, रोनाल्ड पिनाक, फ्रेड डब्ल्यू० आदि शामिल हैं।

विकास के लक्ष्य
(GOALS OF DEVELOPMENT)

विश्व के सभी देश विकास के लिए हर सम्भव प्रयास कर रहे हैं। विश्व की अधिकांश जनता की आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए न केवल अल्पविकसित तथा विकासशील देश जुड़े हुए हैं, अपितु विकसित देश भी प्रयत्नशील हैं। प्रो० गालब्रेथ (Galbraith) का कहना है कि अब विलास की वस्तुओं और आवश्यक वस्तुओं का अन्तर समाप्त हो गया है क्योंकि अब आम जनता भी विलास की वस्तुओं का उपभोग करने लगी है। विकासशील देशों ने विकास के निम्नलिखित लक्ष्य प्राप्त करने हैं—

1. न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति (Fulfilment of Minimum Needs)—विकास का प्रथम महत्त्वपूर्ण लक्ष्य ग़रीब जनता की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। चिकित्सा सुविधाएं, स्वास्थ्य, पेयजल, कपड़ा, मकान, भोजन आदि आवश्यक पदार्थों की सुविधाएं आम जनता को दी जाएंगी।

2. ग़रीबी व बेरोज़गारी को दूर करना (To Remove Poverty and unemployment)—पिछड़े तथा विकासशील देशों का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य आर्थिक पुनर्निर्माण करके ग़रीबी तथा बेरोज़गारी को दूर करना है। विकसित देश भी बेरोज़गारी की समस्या को हल करने के लिए प्रयास कर रहे हैं।

3. प्राकृतिक साधनों का विकास (Development of Natural Resources)—विकासशील देशों का लक्ष्य प्राकृतिक साधनों का शोषण करके देश का आर्थिक विकास करना है।

4. विकास की ऊंची दर (High rate of growth)—आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए आर्थिक विकास की ऊंची दर को प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इसके लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय तथा शुद्ध प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की जाए।

5. आत्म-निर्भरता (Self-dependency)—अल्पविकसित तथा विकासशील देशों का लक्ष्य अपने देश को आत्म-निर्भर बनाना है। आत्म-निर्भरता की अवस्था को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि निर्यात में वृद्धि की जाए तथा आयात में कमी की जाए। सभी देश आर्थिक निर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

6. समाज कल्याण के कार्य (Welfare Functions of Society)—विकासशील देश लोगों के आर्थिक तथा समाज कल्याण के कार्यों को निम्न स्तर के लोगों तक पहुंचाने का लक्ष्य रखते हैं। ग़रीब वर्गों और विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों के लिए सरकार को भारी निवेश का रास्ता अपनाना पड़ेगा। विश्व के अनेक देशों में बेकारी भत्ता (Unemployment Allowance) दिया जाता है। विश्व के अनेक विकसित देशों में बेरोज़गारों को बेकारी भत्ता, नि:शुल्क तथा अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा, वृद्धों को पेंशन इत्यादि अनेक सुविधाएं दी गई हैं और विकासशील देश इन सुविधाओं को देने का प्रयास कर रहे हैं।

7. लोकतन्त्रीय पद्धति से विकास (Development through Democratic Method)—लोकतन्त्र पद्धति के द्वारा ही विकास कार्य किए जाने चाहिएं। लोकतन्त्र विकास का विरोधी नहीं है। यह ठीक है कि अधिनायकवादी देशों में विकास की गति तीव्र होती है और अधिनायक विकास की जो दिशा तय करता है उसी दिशा में विकास होता है परन्तु अधिनायकवादी देशों में जनसहयोग के अभाव में विकास में जनता की न तो रुचि होती है और न ही विकास के लाभ आम जनता तक पहुंचते हैं। उदाहरण के तौर पर साम्यवादी देशों में विकास के प्रतिमानों को बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाता था जबकि वास्तविकता बिल्कुल उसके विपरीत थी। अत: विकास जनसहयोग से ही होना चाहिए ताकि विकास या लाभ आम जनता में समानता के आधार पर वितरित किया जा सके।

कल्याणकारी राज्य की परिभाषा
(DEFINITION OF WELFARE STATE)

कल्याणकारी राज्य की परिभाषा विभिन्न विचारकों ने अपने-अपने विचारानुसार की है—

(1) **मि० हाबमैन** के अनुसार, ''कल्याणकारी राज्य साम्यवाद और स्वेच्छावादी व्यक्तिवाद के मध्य एक समझौता है—कल्याणकारी राज्य जीवन का न्यूनतम स्तर देने का दायित्व लेता है जिसके कारण व्यक्तिगत उद्यमों के उत्साह को ठेस नहीं पहुंचती। यह नागरिकों में आर्थिक समानता स्थापित नहीं करता, अपितु अधिक आय वालों पर अधिक कर लगाकर सीमित रूप से आय का वितरण करता है—इसके अतिरिक्त रोगावस्था, वृद्धावस्था और बेरोज़गारी की अवस्था में वित्तीय सहायता देता है।''[1]

(2) **मि० काण्ट** के अनुसार, ''कल्याणकारी राज्य वह है जो अपने नागरिकों के लिए व्यापक सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करता है।''[1]

(3) **अब्राह्म लिंकन** के विचारानुसार, ''वह समाज जहां राज्य शक्ति का प्रयोग निश्चयपूर्वक साधारण अर्थव्यवस्था को इस प्रकार बदलने के लिये किया जाए कि प्रत्येक नागरिक के लिए सम्पत्ति का उचित वितरण हो सके।''[2]

(4) **जी० डी० एच० कोल** के विचारानुसार, ''कल्याणकारी राज्य एक ऐसा समाज है जिसमें एक निश्चित न्यूनतम जीवन स्तर और अवसर की प्राप्ति करने के लिए प्रत्येक नागरिक को अधिकार अवश्य दिया जाता है।''[3]

आधुनिक कल्याणकारी राज्य के कार्य
(FUNCTIONS OF THE MODERN WELFARE STATE)

कल्याणकारी राज्य दो प्रकार के कार्य करता है—

(क) अनिवार्य कार्य

(ख) कल्याणकारी कार्य।

राज्य के आवश्यक कार्य
(COMPULSORY OR OBLIGATORY FUNCTIONS OF STATE)

1. **जीवन और सम्पत्ति की रक्षा (Protection of Life and Property of the People)**—इंग्लैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक जॉन लॉक (John Locke) ने व्यक्ति के तीन अधिकारों की संज्ञा दी है। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जीवन, सम्पत्ति और स्वतन्त्रता का अधिकार है। कोई भी राज्य न तो व्यक्तियों को ये अधिकार प्रदान करता है और न ही व्यक्ति से ये अधिकार छीन सकता है। व्यक्ति इन अधिकारों का आनन्द तभी उठा सकता है यदि व्यक्ति के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा राज्य द्वारा की जाए। राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य नागरिकों की रक्षा करना है। राज्य में व्यक्ति इसी कारण रहता है कि राज्य में उसके जीवन और सम्पत्ति की रक्षा हो सकती है। इस उद्देश्य के लिए प्रत्येक राज्य को पुलिस और सेना का संगठन करना पड़ता है।

2. **कानून और व्यवस्था की स्थापना (Maintenance of Law and Order)**—जब व्यक्ति एक समूह में रहते हैं तो वे अपने सामाजिक जीवन के लिए कुछ नियमों का पालन अवश्य करते हैं। यह मानवीय स्वभाव है कि नियम होने के बावजूद भी आपसी लड़ाई-झगड़े उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए राज्य में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना राज्य का एक प्रमुख कर्तव्य है। इस कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए राज्य अपने पुलिस विभाग द्वारा अपने कानूनों की अवहेलना करने वालों को कठोर दण्ड दिलवाता है। यदि राज्य शान्ति और व्यवस्था न बना सके तो अधिकारों का निर्णय शक्ति द्वारा ही होगा और इस अवस्था में बलहीन लोगों को विकास करने का कभी भी अवसर प्राप्त नहीं हो सकता।

---

3. बाह्य आक्रमणों से रक्षा (Defence from External Aggressions)—विभिन्न राज्यों के मध्य युद्ध होना एक ऐतिहासिक सत्य है। बड़े और उन्नत राज्य सदा ही छोटे राज्यों को निगलने की ताक में रहते हैं। इसलिए प्रत्येक राज्य का यह आवश्यक कार्य है कि वह अपनी सीमाओं में रह रहे नागरिकों की बाह्य आक्रमणों से रक्षा करें। इस उद्देश्य के लिए राज्य को एक शक्तिशाली सशस्त्र सेना का संगठन करना पड़ता है। जिस देश के नागरिकों को इस बात का विश्वास नहीं कि उनकी सरकार बाह्य आक्रमणों से उनकी रक्षा कर सकेगी तो वे नागरिक निश्चिन्त नहीं रह सकते।

4. न्यायपालिका का संगठन (Organisation of Judiciary)—स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष और स्वतन्त्र न्यायपालिका का संगठन करना प्रत्येक सरकार का परम कर्त्तव्य है। आधुनिक युग में निष्पक्ष और स्वतन्त्र न्यायपालिका का महत्त्व और भी बढ़ गया है क्योंकि कल्याणकारी राज्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है और नागरिक की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए राज्य को अनेक कानून बनाने पड़ते हैं।

5. अन्य देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना (Maintenance of Friendly Relations with Foreign Countries)—आधुनिक युग अन्तर्राष्ट्रवाद का युग है। कोई भी राज्य सम्पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकता। प्रत्येक राज्य की आवश्यकताएं इतनी अधिक हैं कि बड़े-से-बड़े राज्य के लिए भी आत्म-निर्भर होना सम्भव नहीं है। प्रत्येक सरकार अपने व्यापारिक उन्नति के लिए अपनी सीमाओं से बाहर अपने माल की खपत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियों की खोज करती है। अपनी सुरक्षा के लिये प्रत्येक सरकार अन्य राज्यों से सहयोग स्थापित करने की इच्छा रखती है। विश्व को युद्ध के भयानक परिणामों से सुरक्षित रखने के लिए विश्व-शान्ति की स्थापना करना प्रत्येक राज्य का हार्दिक उद्देश्य है। यह सब कुछ तभी सम्भव है यदि प्रत्येक राज्य अन्य राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करे। आजकल सभी राज्य अपने राजदूत अन्य देशों में भेजते हैं और अन्य देशों के राजदूतों को अपने देश में स्वीकार करते हैं। आधुनिक यातायात के साधन इतने विकसित हो गये हैं कि सम्पूर्ण विश्व के समस्त देश आर्थिक, सांस्कृतिक पक्ष से एक-दूसरे के निकट आ गए हैं। आधुनिक राज्य के लिए यह अनिवार्य है कि वह अन्य देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करें।

राज्य के कल्याणकारी कार्य
(WELFARE FUNCTIONS OF THE STATE)

आधुनिक युग कल्याणकारी राज्य का युग है। सभी लोगों के सर्वपक्षीय कल्याण के लिए योजनाएं बनाना और उन्हें लागू करना आधुनिक राज्य का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य माना जाता है। व्यक्तिवादियों ने पुलिस राज्य की धारणा दी थी। ऐसे राज्य के कार्यों में लोगों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना और समाज में शान्ति स्थापित करने तक सीमित कर दिया गया था। देश की बाह्य आक्रमण से रक्षा करना ऐसे राज्य के आवश्यक कार्यों में शामिल था। परन्तु राज्य को न तो आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने और न ही कल्याणकारी स्वरूप के कार्य करने का अधिकार दिया गया था। वर्तमान समय व्यक्तिवादी या पुलिस-राज की धारणा का कोई स्थान नहीं रहा है। आधुनिक युग में जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र सम्बन्धी राज्य को कई कार्य करने अनिवार्य हो गये हैं। मानव के सर्वपक्षीय विकास के लिए आधुनिक राज्य को अनेक कल्याणकारी और विकासकारी कार्य करने पड़ते हैं। आधुनिक युग में न तो आर्थिक क्षेत्र और न ही कल्याणकारी स्वरूप राज्य के अधिकार क्षेत्र से बाहर माने जाते हैं। आधुनिक राज्य को अनेक प्रकार के कल्याणकारी कार्य करने पड़ते हैं। चाहे ऐसे कार्यों की पूर्ण सूची तैयार करना लगभग असम्भव है परन्तु फिर भी हम यह कह सकते हैं कि निम्नलिखित कल्याणकारी कार्य आधुनिक राज्य द्वारा प्राप्त किये जाते हैं—

1. शिक्षा का प्रसार (Spread of Education)—शिक्षा मानवीय जीवन के लिए प्रकाश है। इसके बिना मनुष्य अपने जीवन का उचित आनन्द नहीं उठा सकता। आरम्भ में शिक्षा प्राप्त करना व्यक्ति का व्यक्तिगत विषय था और साधारणतः धार्मिक संस्थाओं अथवा गुरुओं द्वारा ही घर में शिक्षा दी जाती थी। व्यक्तिवादियों ने शिक्षा के कार्य को राज्य के क्षेत्र से पृथक माना है परन्तु इसके विपरीत समाजवादियों ने शिक्षा देने का प्रबन्ध करना राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य माना है क्योंकि शिक्षा के बिना आदर्श नागरिकता की प्राप्ति और प्रजातन्त्र की सफलता सम्भव नहीं है। शिक्षित नागरिक ही लोकतन्त्र की सफलता को निश्चयपूर्ण बना सकते हैं। अशिक्षित नागरिक न तो वर्तमान राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को समझ सकते हैं न ही अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का महत्त्व जान सकते हैं। लोकतन्त्र में लोग ही वास्तविक अर्थों में देश के शासक हैं। इसलिए लोगों

को शिक्षा दिये बिना लोकतन्त्र की सफलता की आशा करना बिल्कुल निर्मूल है। इसलिए आधुनिक हितकारी राज्य ने शिक्षा का प्रबन्ध अपने दायित्व पर ले लिया है। विश्व के बड़े-बड़े देशों में आजकल शिक्षा का प्रबन्ध वहां की सरकारें करती हैं। सरकारी शिक्षा संस्थाओं के अतिरिक्त विभिन्न धार्मिक, भाषायी आदि संस्थाओं द्वारा स्कूल, कॉलेज स्थापित किये जाते हैं जिनके संचालन के लिए सरकार द्वारा अनुदान और अन्य सुविधाएं दी जाती हैं।

2. निर्धनता दूर करना (Removal of Poverty)—निर्धनता को एक अभिशाप माना गया है। निर्धनता ही मनुष्य को कई पाप करने के लिए विवश करती है। लोकतन्त्र की सफलता के मार्ग में निर्धनता एक बहुत बड़ी बाधा है क्योंकि भूख से तड़पती आत्माएं केवल राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति से सन्तुष्ट नहीं हो सकतीं। जब तक किसी देश में से निर्धनता को समाप्त न किया जाए तब तक वह कल्याणकारी राज्य नहीं बन सकता। निर्धनता को दूर करने के लिए राज्य उत्पादन के साधन बढ़ाकर देश के धन को बढ़ाने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त राज्य उत्पादन के बड़े-बड़े साधनों का राष्ट्रीयकरण करके धन के वितरण को उचित अनुपात में करने का प्रयत्न करता है। निर्धन लोगों को ऋण आदि देकर ऊंचा उठाने का अवसर प्रदान करता है।

3. सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा सहायता (Public Health and Medical Relief)—जिस देश के नागरिक बीमार और निर्बल होंगे, उस देश की स्वतन्त्रता का सदा के लिए स्थिर रहना कठिन है, क्योंकि स्वस्थ नागरिक अपनी और अपने देश की रक्षा कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त बीमार व्यक्ति समाज पर एक बोझ है क्योंकि बीमारी के कारण वह समाज की उन्नति के लिए कोई योगदान नहीं दे सकता। यह कहावत सच है कि, ''स्वास्थ्य दिमाग स्वस्थ शरीर में ही हो सकता है'' इसलिए लोगों के स्वास्थ्य की देखभाल करना कल्याणकारी राज्य का कर्त्तव्य है। यदि नागरिक स्वस्थ नहीं होंगे तो देश की सर्वोन्मुखी उन्नति बहुत सीमित होगी। इसलिए सरकार को चाहिए कि वह बीमारियों के फैलाव को रोकने के लिए उचित प्रबन्ध करे। स्वास्थ्य केन्द्रों और अस्पताल का जाल बिछा दिया जाए। शहरों और गांवों की सफाई का पूर्ण प्रबन्ध किया जाए। आधुनिक राज्य इन सभी कार्यों को पूरा करता है। हम देखते हैं कि बीमारों के उपचार के लिए प्रत्येक शहर और कस्बे में सरकारी अस्पताल हैं और लोगों की देखभाल करने के लिए सरकार का एक पृथक् स्वास्थ्य विभाग है, जो स्वास्थ्य के प्रति कार्यों को पूरा करता है। बच्चों के स्वास्थ्य के लिए बाल-स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित किये जाते हैं। बीमारी आदि को रोकने के लिए टीके आदि लगवाने का प्रबन्ध किया जाता है। लोगों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए मादक वस्तुओं के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है।

4. सामाजिक सुरक्षा (Social Security)—सामाजिक सुरक्षा का अर्थ है कि बीमारी, बुढ़ापे और बेकारी के समय राज्य की ओर से आदमी की रक्षा की जाए। आधुनिक सरकार बेरोजगारों को कार्य देने का दायित्व लेती है और उद्योग-धन्धों तथा कारखानों में कार्य कर रहे व्यक्तियों के लिए योजनाएं चलाती है, जिसके द्वारा उनकी सुरक्षा हो सके। कई देशों में बूढ़ों, अंगहीनों और विधवाओं को पेन्शन मिलती है। कई राज्यों में जीवन बीमा, स्वास्थ्य बीमा, दुर्घटना बीमा अथवा बीमारी का बीमा, भविष्य निधि आदि योजनाएं चलाई जाती हैं। व्यक्तिवाद के समर्थकों के विचारों में राज्य का ऐसे कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। व्यक्तिवादियों की ऐसी विचारधारा अतीत की एक कहानी बन कर रह गई है, क्योंकि सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना, आधुनिक कल्याणकारी राज्य का मुख्य उद्देश्य है।

5. श्रम के विषय में नियम बनाना (Regulation of Labour)—राज्य श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए उत्तरदायी है। श्रमिकों को पूंजीपतियों के शोषण से बचाने के लिए आधुनिक राज्य कई प्रकार के कानून बनाता है। आजकल प्रायः सभी राज्यों में श्रमिकों के कार्य करने के घण्टे निश्चित किये गये हैं और फैक्टरी एक्ट के द्वारा वेतन की दर और बोनस के विषय में नियम बनाये गये हैं। श्रमिकों की स्थिति सुधारना राज्य का कर्त्तव्य माना जाता है। इसी कारण कारखानों, खानों (Mines) और अन्य उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए स्वस्थ वातावरण बनाये रखने के लिए सरकार नियम निश्चित करती है। श्रमिकों और उद्योगपतियों के परस्पर विवादों का निर्णय करने के लिए सरकार श्रम न्यायालय (Labour Courts) स्थापित करती है। यदि कोई आधुनिक सरकार ऐसा नहीं करती तो श्रमिकों की असन्तुष्टता क्रान्ति को जन्म दे सकती है।

6. सार्वजनिक उपयोगी सुविधाएं (Public Utility Services)—विश्व के अनेक देशों में रेलों, सड़कों, डाक-तार, टेलीफोन, बिजली, रेडियो आदि सार्वजनिक सुविधाएं पहुंचाने वाली सेवाओं का संचालन और विकास सरकार द्वारा ही होता है। ये सुविधाएं ऐसी हैं जिनका प्रबन्ध व्यक्ति स्वयं नहीं कर सकता। यदि ये सुविधाएं व्यक्ति के व्यक्तिगत हाथों में छोड़ दी जाएं तो इनके लाभ कुछ एक व्यक्तियों तक ही सीमित रहेंगे और सरकार को बहुत-से धन से वंचित रहना पड़ेगा। ये सेवाएं

जहाँ व्यक्ति के जीवन को सम्पन्न बनाती हैं वहां देश की आर्थिकता को भी दृढ़ बनाती हैं, क्योंकि इन सेवाओं द्वारा ... सा धन कमाया जाता है।

7. सामाजिक बुराइयों को समाप्त करना (Abolition of Social Evils)—किसी समाज में सामाजिक परिवर्तन तभी हो सकता है, यदि सामाजिक बुराइयों का अन्त किया जाए। ऐसी सामाजिक बुराइयों का अन्त करने में राज्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अभिनीत करता है। हमारे देश का उदाहरण हमारे सामने है। प्राचीन समय से हमारे देश में जन्म के आधार पर जनसंख्या के एक बड़े भाग से पक्षपात किया जाता था। इन लोगों को नीच कहकर सामाजिक पक्षपात का शिकार बनाया जाता था और उन पर कथित विशिष्ट श्रेणी के लोगों द्वारा कई प्रकार के अत्याचार भी किए जाते थे। भारत में इस सामाजिक कुरीति को दूर करने हेतु राज्य ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अभिनीत की है। भारतीय संविधान द्वारा अस्पृश्यता को समाप्त किया गया और समस्त लोगों को बिना किसी मतभेद के समान अधिकार दिए गए हैं। अस्पृश्यता का प्रचार करने वाले अथवा अस्पृश्यता की प्रथा को कार्यान्वित करने वाले व्यक्ति को वैधानिक विधि के अनुसार दण्ड दिया जाता है। यह सत्य है कि अभी भी हमारे देश में हरिजनों को सामाजिक पक्षपात का सामना करना पड़ता है, परन्तु इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि हरिजनों की स्थिति में पहले से अत्यधिक सुधार हुआ है और यह सुधार करने में भारतीय राज्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसी प्रकार बाल-विवाह, दहेज-प्रथा एवं स्त्रियों से भेदभाव इत्यादि सामाजिक बुराइयां इस देश में मिलती थीं। बाल-विवाह एवं दहेज-प्रथा को राज्य के कानूनों द्वारा नियमित किया गया है तथा प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियों और पुरुषों को समान अधिकार दिए गए हैं। स्त्रियों के गौरव को ऊपर उठाने के लिए भारतीय संविधान में यह अंकित किया गया है कि प्रत्येक नागरिक का यह मौलिक कर्त्तव्य है कि वह स्त्रियों का अपमान करने वाली प्रथाओं को त्याग दे। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए सामाजिक बुराइयों का अन्त किया जाना अनिवार्य है और इसके प्रति राज्य महत्त्वपूर्ण भूमिका अभिनीत करता है।

8. मनोरंजन की सुविधाएं प्रदान करना (To Provide Recreational Facilities)—नागरिकों के जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए और प्रतिदिन जीवन की कठोरता को कम करने के लिए राज्य को मनोरंजन की सुविधाओं का प्रबन्ध अवश्य करना चाहिए। इसलिए आजकल राज्य सिनेमा-घरों, कला-केन्द्रों, सार्वजनिक तालाबों, खेल-कूद के मैदानों, अखाड़ों, बागों और पार्कों आदि का प्रबन्ध करता है। संगीत, नाटक और साहित्यिक कलाकारों को प्रोत्साहित करने के लिए इनाम दिए जाते हैं।

9. बुजुर्गों, बेरोजगारों तथा निराश्रितों को संरक्षण (To Take care of the old, the unemployed and the helpless)—आधुनिक युग कल्याणकारी राज्य का युग है। कोई समय था जब व्यक्तिवादी-उदारवादी विचारधारा ने राज्य को एक आवश्यक बुराई माना था और कल्याणकारी स्वरूप के कार्य राज्य के अधिकार क्षेत्र से बाहर माने जाते थे। उस समय पुलिस राज्य की धारणा पर ज़ोर दिया गया था, परन्तु आधुनिक समय कल्याणकारी स्वरूप के कार्य राज्य के आवश्यक कार्य बन गए हैं और इसी कारण आधुनिक समय में कल्याणकारी राज्य की धारणा की बोलबाला है।

कल्याणकारी राज्य द्वारा किए जाने वाले कल्याणकारी स्वरूप के अनेक कार्यों में से बुजुर्गों की देखभाल करना एक आवश्यक कार्य है। बुजुर्गों की देखभाल करने का कार्य चाहे उनकी सन्तान की जिम्मेदारी है, परन्तु यह जिम्मेदारी नैतिक स्वरूप की है और आधुनिक भौतिकवादी युग में वर्तमान युवक इस जिम्मेदारी से दूर भाग रहे हैं इसलिए कल्याणकारी राज्य को बुजुर्गों की देखभाल का विशेष ध्यान देने की और भी अधिक आवश्यकता है। सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करना आधुनिक राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस व्यवस्था में ही बुजुर्गों की देखभाल करने का कार्य शामिल है। राज्य द्वारा बुजुर्गों के लिए विशेष आश्रमों का प्रबन्ध किया जाता है जहां बुजुर्गों को जीवन की आवश्यक सुविधाएं दी जाती हैं। कई राज्यों में बुढ़ापे की पैंशन की व्यवस्था की गई है।

बेरोजगारों को रोज़गार देना आधुनिक राज्यों का कार्य है। कई राज्यों में नागरिकों को कार्य का अधिकार प्राप्त है। जहां कार्य के अधिकार की व्यवस्था होती है वहां पर प्रत्येक कार्य करने योग्य व्यक्ति को कार्य करने देना राज्य का उत्तरदायित्व माना जाता है। जब तक राज्य को अपने नागरिकों के लिए बेरोज़गारी भत्ता देने की व्यवस्था करनी पड़ती है। यह भत्ता बेरोज़गारों के जीवन की आवश्यक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए काफ़ी होता है।

बेसहारा व्यक्ति की देखभाल करना आधुनिक कल्याणकारी राज्य का महत्त्वपूर्ण कार्य है। यदि राज्य ऐसे व्यक्तियों की देखभाल नहीं करेगा तो बेसहारा व्यक्ति समाज पर ऐसा बोझ सिद्ध होंगे जो सामाजिक शान्ति के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है। उन्नत देशों में बुजुर्गों, बेरोज़गारों और बेसहारा लोगों की देखभाल के लिए राज्य द्वारा बड़े अच्छे प्रबन्ध किए गए

पिछड़े और विकासशील देशों में ऐसे प्रबन्ध सन्तोषजनक नहीं हैं। इसका कारण उन देशों की मन्दी अर्थव्यवस्था है कई राज्यों द्वारा बुजुर्गों, बेरोज़गारों और बेसहारा लोगों की देखभाल के लिए उचित प्रबन्ध नहीं किए गए हैं परन्तु इस से इन्कार नहीं किया जा सकता कि बुजुर्गों, बेरोज़गारों और बेसहारा व्यक्तियों की देखभाल करना आधुनिक राज्य का कार्य है।

सुरक्षित पक्षपात की व्यवस्था (Provision of Protective Discrimination)—समाज में रहते सभी लोगों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति एक जैसी नहीं होती। समाज में कुछ ऐसे वर्ग होते हैं जो आर्थिक और सामाजिक रूप से काफ़ी अधिक पिछड़े होते हैं। राजनीतिक और कानूनी समानता के अधिकार देने से इन वर्गों के लोग दूसरे उन्नत वर्गों के लोगों के समान नहीं हो सकते हैं। इन पिछड़े वर्गों के लोगों को दूसरे उन्नत वर्गों के लोगों के समान लाने के लिए उनको कुछ विशेष सुविधाएं और रियायतें देनी अनिवार्य होती हैं। चाहे ऐसी विशेष रियायतें और सुविधाएं समानता के कानूनी अधिकार की धारणा अनुसार नहीं होतीं परन्तु आवश्यक कल्याणकारी राज्य के लिये पिछड़े वर्गों के लोगों के लिये विशेष सुविधाओं की व्यवस्था करना बहुत आवश्यक हो गया है क्योंकि ऐसी सुविधाओं के बिना पिछड़े वर्गों के लोग न तो योग्य विकास कर सकते हैं और न ही उन्नत वर्ग के लोगों की सामाजिक समानता करने का साहस कर सकते हैं। पिछड़े वर्गों के लोगों के पक्ष में विशेष सुविधाएं और रियायतों की व्यवस्था को 'सुरक्षित पक्षपात' कहा जाता है क्योंकि ऐसा पक्षपात विशेष वर्गों के लोगों के हितों की सुरक्षा के लिये किया जाता है।

विकासकारी कार्य
(DEVELOPMENTAL FUNCTIONS)

आधुनिक राज्य जहां महत्त्वपूर्ण अनेक कल्याणकारी कार्य करता है, वहां उस द्वारा अनेक विकासकारी कार्य भी किये जाते हैं। कोई भी आधुनिक राज्य विकासकारी कार्य किये बिना अस्तित्व में नहीं रह सकता। यद्यपि राज्य के कल्याणकारी और विकासकारी कार्यों को एक-दूसरे से पूर्ण रूप से अलग करना एक कठिन समस्या है, परन्तु फिर भी हम यह कह सकते हैं कि निम्नलिखित कार्य राज्य के विकासकारी कार्यों की सूची में प्राय: सम्मिलित किये जाते हैं—

1. प्राकृतिक साधनों का उपयोग (Exploitation of Natural Resources)—सभी राज्यों के प्रति प्रकृति समान रूप से मेहरबान नहीं होती। दूसरे शब्दों में, सभी राज्यों को प्राकृतिक साधनों का खज़ाना समान रूप में प्राप्त नहीं होता है। कुछ राज्यों के पास प्राकृतिक साधन बहुत ही अधिक होते हैं, जबकि कुछ दूसरे राज्य प्राकृतिक साधनों का अभाव अनुभव करते हैं। परन्तु कुछ भी हो, थोड़े बहुत प्राकृतिक साधन प्रत्येक राज्य के पास हैं। जो राज्य अपने प्राकृतिक साधनों से पूर्ण लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, उस राज्य की अर्थव्यवस्था निश्चय ही अच्छी होती है। इसके विपरीत जो राज्य अपने प्राकृतिक साधनों का उपयोग नहीं करता है वह राज्य अपने नागरिकों को वृद्धि प्रदान नहीं कर सकता। इसी कारण प्राकृतिक साधनों के उपयोग को राज्य के महत्त्वपूर्ण विकासकारी कार्यों में सम्मिलित किया जाता है। प्राकृतिक साधनों से लाभ प्राप्त करने के लिए राज्य द्वारा आवश्यक योजनाएं बनाई जाती हैं और उन योजनाओं को अमली रूप देने के लिए भी कार्यक्रम निर्धारित किये जाते हैं। तेल, कोयला, बिजली, खनिज पदार्थ और अनेक ऐसी उपयोगी वस्तुएं प्राकृतिक साधनों के योग्य प्रयोग से ही प्राप्त की जाती हैं।

2. कृषि की उन्नति (Development of Agriculture)—कृषि करना लोगों का कार्य है, परन्तु राज्य को भी कृषि की उन्नति की ओर ध्यान देना पड़ता है। आधुनिक युग में कृषि के वैज्ञानिक ढंगों ने क्रान्ति ला दी है। साधारण किसान इन वैज्ञानिक ढंगों से लाभ नहीं उठा सकता क्योंकि न तो उसे ज्ञान होता है और न ही उसके पास उचित साधन। इसलिए राज्य को चाहिए कि वह कृषकों के लिए अच्छे बीजों और खादों का प्रबन्ध करे, सिंचाई की ओर अधिक-से-अधिक ध्यान दे ताकि लोगों को अन्न की कमी न हो। यदि किसी देश को अन्न की कमी का सामना करना पड़ेगा तो वह अन्य देशों के आगे हाथ फैलाने के लिए विवश हो जाएगा। प्राय: ऐसी सहायता देने वाला देश, सहायता ले रहे देश की आन्तरिक और बाह्य नीतियों को प्रभावित करता है।

3. औद्योगिक विकास (Industrial Development)—कृषि के विकास के साथ-साथ औद्योगिक विकास के लिये भी आवश्यक कदम उठाने राज्य का विकासकारी कार्य है। आधुनिक युग में औद्योगिक विकास ही किसी देश की अर्थव्यवस्था

को प्रगतिशील बना सकता है। वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास के कारण अनेक प्रकार के औद्योगिक आविष्कार विश्व के सामने आ रहे हैं। प्रत्येक देश नए से नए औद्योगिक आविष्कार में प्रयत्नशील हैं क्योंकि किसी देश का औद्योगीकरण ही उसके आर्थिक विकास को यकीनी बना सकता है। औद्योगिक विकास ग़रीबी तथा बेरोज़गारी की समस्याओं का समाधान करने में भी सहायक सिद्ध होता है। समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर औद्योगिक मेले लगते हैं जिनमें भिन्न-भिन्न देश अपने औद्योगिक विकास का प्रदर्शन करते हैं। कृषि का विकास भी वास्तव में औद्योगिक विकास के साथ ही सम्बन्धित है क्योंकि आधुनिक युग में कृषि का मशीनीकरण ही कृषि के विकास की गति को तीव्र कर सकता है। प्रत्येक प्रकार के उद्योग को विकसित करना आधुनिक राज्य के विकासकारी कार्यों में अति महत्त्वपूर्ण कार्य है क्योंकि इस कार्य की सफलता के ऊपर ही देश की शक्तिशाली अर्थव्यवस्था का अस्तित्व निर्भर करता है।

4. व्यापार, उद्योग और वाणिज्य नियमित करना (Regulation of Trade, Industry and Commerce)—आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवादियों का मूल सिद्धान्त 'व्यक्ति को अकेला छोड़ दो' (Laissez Faire) आधुनिक युग में मानव जाति के विकास के लिए उचित नहीं है। यदि राज्य की ओर से व्यक्ति के आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा तो आर्थिक असमानता इस प्रकार बढ़ जाएगी कि समाज में दलित वर्ग क्रान्ति ले आएगा। यह सर्वमान्य राजनीतिक सत्य है कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र में प्रविष्ट होकर उद्योगों और व्यापार को नियमित करना चाहिए। इसलिए आधुनिक राज्य उद्योग-धन्धों के लिए उचित नियम बनाता है। आयात और निर्यात (Import and Export) को कानूनों द्वारा नियमित करता है। माप-तोल के पैमाने पर आवश्यक वस्तुओं के मूल्य निश्चित किए जाते हैं। राज्य स्वयं भी कई उद्योग-धन्धे चलाता है।

5. आयोजन (Planning)—यद्यपि कोई देश साम्यवादी है या ग़ैर-साम्यवादी, आयोजन प्रत्येक देश के विकास के लिए आवश्यक है। यह आयोजन का कार्य या तो सरकार के किसी भी भाग द्वारा या सरकार द्वारा स्थापित किसी स्वतन्त्र आयोग (Commission) द्वारा किया जाता है। प्रत्येक देश अपनी अवस्थाओं के अनुकूल आयोजन करता है। उदाहरणत: भारत ने पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण किया है। बिना आयोजन के आर्थिक विकास सम्भव नहीं है और आयोजन सरकार द्वारा या उसके नियन्त्रणाधीन नियोजन आयोग (Planning Commission) द्वारा किया जाता है। यह कथन इस बात को स्पष्ट करता है कि राज्य आर्थिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण साधन है।

6. आयात और निर्यात (Import and Export)—आधुनिक युग में आर्थिक परिवर्तन के लिए आयात-निर्यात को नियन्त्रित करना प्रत्येक राज्य के लिए आवश्यक है। यदि राज्य द्वारा ऐसा कार्य न किया जाए तो किसी अविकसित देश के कुटीर उद्योग उन्नत नहीं हो सकेंगे और ऐसे देश की अर्थव्यवस्था धनी और विकसित देशों की नीतियों की दास बनकर रह जाएगी। विकसित देश अपने उत्पादन को अविकसित देशों में सस्ते भाव पर बेचने का प्रयत्न करेंगे और उनकी ऐसी नीति का परिणाम यह होगा कि अविकसित देशों का अपना औद्योगिक विकास उचित रूप में नहीं हो सकेगा। इसी कारण प्रत्येक राज्य आयात और निर्यात पर अपना पूरा नियन्त्रण करता है और इस क्षेत्र के विषय में ऐसी नीति अपनाता है जिसके परिणामस्वरूप देश में अच्छी दशा के प्रति आर्थिक परिवर्तन हो सकें। यह तथ्य हमारे इस कथन की पुष्टि करता है कि राज्य आर्थिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण साधन है।

7. लाइसेंस और कर प्रणाली (Licensing and Taxation System)—ग़ैर-साम्यवादी देशों में कई आर्थिक उद्यमों को स्थापित करने के लिए सरकार से आज्ञा-पत्र (Licence) लेना आवश्यक होता है। इसी प्रकार इन देशों में उद्योगपतियों और व्यापारियों को आयात और निर्यात करने के विषय में सरकार से आवश्यक अनुमति-पत्र प्राप्त करना पड़ता है। यदि राज्य द्वारा लाइसेंस प्रणाली लागू न की जाए तो सम्भव है कि कई वस्तुओं का उत्पादन आवश्यकता से अधिक और कुछ दूसरी वस्तुओं का उत्पादन आवश्यकता से कम हो सकता है। ऐसी स्थिति में अच्छा आर्थिक परिवर्तन सम्भव नहीं होगा और देश की अर्थव्यवस्था भी शक्तिशाली नहीं बन सकेगी। राज्य द्वारा अनेक प्रकार के कर भी लगाये जाते हैं। यदि कर प्रणाली दोषपूर्ण होगी तो उचित आर्थिक परिवर्तन बहुत कठिन होगा। आर्थिक परिवर्तन को सम्भव बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि देश में धनी और निर्धन के परस्पर अन्तर को बढ़ने न दिया जाए, अपितु धनवानों और निर्धनों में उचित सन्तुलन स्थापित किया जाए। यह कार्य भी राज्य द्वारा उचित कर प्रणाली अपनाने से किया जाता है। राज्य यह प्रयत्न करता है कि ऐसी कर प्रणाली अपनाई जाए जिसका अधिक-से-अधिक भार धनी लोगों और कम-से-कम भार निर्धन लोगों को सहन करना पड़े। राज्य के ऐसे कार्य भी हमारे इस विचार का समर्थन करते हैं कि राज्य आर्थिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण साधन है।

8. शहरी विकास (Urban Development)—औद्योगिक विकास के कारण शहरीकरण का भी बहुत विकास हो रहा है। जहां कहीं भी उद्योग लगाये गये हैं वहां अनेक नए उपनिवेशों का अस्तित्व हुआ है। ग्रामीण क्षेत्र के मुकाबले शहरी और

व्यापार के अधिक साधन उपलब्ध होने के कारण ग्रामीण क्षेत्र से भी लोग अधिक संख्या में शहरों में जा रहे हैं। इसी कारण अनेक प्रकार की शहरी समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। जनसंख्या के बढ़ने के कारण शहरी समस्याओं में बढ़ौत्तरी हुई है। अनेक समस्याओं में से सबसे बड़ी समस्या योग्य मकानों के अभाव के साथ सम्बन्धित है। जीवन की दैनिक सुविधाओं का अभाव भी शहरों में प्रायः महसूस किया जाता है। अनेक ही अप्रमाणित गंदे उपनिवेश शहरी क्षेत्र में विकसित हो रहे हैं। औद्योगिक विकास के कारण शहरों का पर्यावरण दूषित हो रहा है। इन सभी समस्याओं का योग्य रूप में समाधान करना राज्य के शहरी विकास के कार्यों का अनिवार्य भाग है।

9. ग्रामीण विकास (Rural Development)—ग्रामीण क्षेत्र में अपनी समस्याएं हैं। शहरी क्षेत्र के मुकाबले ग्रामीण क्षेत्र में निरक्षरता, सामाजिक और आर्थिक पिछड़ापन अधिक स्तर पर पाया जाता है। ग्रामीण क्षेत्र में यातायात की सुविधाओं का अभाव है तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाएं भी कम मिलती हैं। ग्रामीण लोगों में ग़रीबी तथा बेरोज़गारी विशाल स्तर पर मिलती है। ग्रामीण स्त्रियां भी आधुनिक सभ्यता के वरदानों का लाभ नहीं प्राप्त कर सकी हैं। ग्रामीण क्षेत्र की समस्याओं का समाधान करना ग्रामीण विकास के लिये अनिवार्य है। यह महत्त्वपूर्ण कार्य राज्य के अतिरिक्त कोई दूसरी संस्था नहीं कर सकती।

10. यातायात के साधनों का विकास (Development of Means of Transport)—यातायात के साधनों का विकास राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। नई सड़कें, रेलवे लाइन और यातायात के साथ सम्बन्धित और अनेक साधनों का विकास देश की अर्थव्यवस्था को शक्तिशाली बनाने के लिए अनिवार्य हो गया है। जिस राज्य में यातायात के साधनों का अभाव है उसमें आर्थिक विकास की गति का धीमा होना बिल्कुल स्वाभाविक है। यातायात के साधनों के योग्य विकास पर लोगों के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति भी निर्भर करती है। यातायात के साधनों की उपलब्धता दैनिक जीवन की आवश्यक सामग्री को भिन्न-भिन्न स्थानों पर समय पर पहुंचाने के लिये सहायक सिद्ध होती है। देश की सुरक्षा के पक्ष से भी यातायात के साधनों के विकास का बहुत महत्त्व है। आधुनिक राज्य यातायात के केवल जमीनी साधनों को ही विकसित नहीं करता, अपितु हवाई और समुद्री साधनों के विकास को भी यकीनी बनाता है।

11. सिंचाई तथा बिजली उत्पादन का विकास (Promotion of Irrigation and Power-generation)—कृषि का विकास काफ़ी समय तक सिंचाई के योग्य साधनों के विकास पर निर्भर करता है। इसी कारण आधुनिक राज्य सिंचाई के साधनों के विकास के प्रति विशेष ध्यान देता है। बड़ी-बड़ी नदियों पर बांध बनाए जाते हैं तथा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में नहरों का जाल बिछाया जाता है। इन नहरों द्वारा उन क्षेत्रों में पानी पहुंचाया जाता है जहाँ पर पानी के प्राकृतिक साधनों का अभाव होता है। सिंचाई के विकास के अतिरिक्त बिजली उत्पादन का विकास होना भी अनिवार्य है तथा यह कार्य भी राज्य द्वारा ही किया जाता है। सिंचाई तथा बिजली उत्पादन के कार्य काफ़ी सीमा तक परस्पर सम्बन्धित हैं। राज्य के ये दोनों विकासकारी कार्य कृषि और औद्योगिक विकास के मुख्य आधार हैं। सिंचाई के साधनों के विकास पर कृषि का विकास तथा बिजली उत्पादन के विकास पर औद्योगिक विकास निर्भर करता है।

12. वैज्ञानिक तथा तकनीकी आविष्कार (Scientific and Technological Research)—वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास दिन-प्रतिदिन बहुत शीघ्रता से हो रहा है। इस विकास के कारण अनेक आविष्कार मानव के सामने आ रहे हैं। वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप ही मनुष्य ने चांद की धरती पर भी अपने कदम जा रखे हैं। वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास की कोई सीमा नहीं है। इसी कारण इन क्षेत्रों में नए-नए आविष्कार विशाल स्तर पर हो रहे हैं। इन आविष्कारों में सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं भी अस्तित्व में आई हैं। ये संस्थाएं अन्तरिक्ष (Space) तथा ग्रहों (Planets) के नए आविष्कार में लगी हुई हैं। ऐसे आविष्कारों को उत्साहित करना भी राज्य के विकासकारी कार्यों में सम्मिलित है।

13. पर्यावरण की सुरक्षा (Protection of Environment)—औद्योगिक विकास के कारण विश्व के प्राकृतिक पर्यावरण के लिए गम्भीर संकट बनता जा रहा है। अनेक प्रकार के रसायनों के प्रयोग के फलस्वरूप पर्यावरण दूषित हो रहा है और अनेक प्रकार की नई बीमारियां मनुष्यता के लिए गम्भीर संकट बनती जा रही हैं। इसी कारण पर्यावरण की सुरक्षा को यकीनी बनाने के लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किये जाते हैं ताकि मानवता को गम्भीर संकटों से बचाया जा सके। प्राकृतिक पर्यावरण की सुरक्षा को यकीनी बनाने के लिए आवश्यक कदम उठाने आधुनिक राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता है।

(ग) विकास का समाजवादी दृष्टिकोण
(SOCIALIST VIEW OF DEVELOPMENT)

समाजवाद का उदय पूंजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। यूरोप के औद्योगिक विकास ने आम लोगों विशेषकर श्रमिकों के जीवन को बड़ा दयनीय व शोचनीय बना दिया था। पूंजीपतियों ने खुली प्रतियोगिता व राज्य की अहस्तक्षेप नीति के कारण श्रमिकों का शोषण किया। पूंजीपतियों की शोषण व अधिक मुनाफ़ा कमाने की नीति के कारण ग़रीब और ग़रीब होते गए। समाजवाद व्यक्तिवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ। पूंजीवाद के दोषों को दूर करने के लिए समाजवाद का उदय हुआ और यूरोप के कई देशों में यह समझा जाने लगा कि समाजवाद से ही पूंजीवाद के दोषों को हटाया जा सकता है और इस तरह कई देशों में समाजवाद को अपनाया गया ताकि श्रमिकों को पूंजीपतियों के शोषण से बचाया जा सके।

समाजवाद की परिभाषा (Definition of Socialism)—प्रो० जोड का कथन है कि, ''समाजवाद एक टोप की तरह है जो अपना रुख खो चुका है क्योंकि हर कोई इसे पहनता है।''[1]

जोड के इस कथन में बहुत सच्चाई है क्योंकि अलग-अलग वर्गों के लोगों ने समाजवाद के अर्थों को अलग-अलग रूप में व्यक्त किया है। समाजवाद के अर्थों के सम्बन्ध में विद्वानों का एकमत नहीं है क्योंकि प्रत्येक विद्वान् ने इसकी परिभाषा अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार की है। समाजवाद की कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार, ''यह (समाजवाद) नीति या सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य केन्द्रीय लोकतन्त्रीय सत्ता द्वारा वर्तमान समय प्रचलित उनके वितरण और उत्पादन से अच्छा वितरण और उत्पादन प्राप्त करता है।''[2]

ऑक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार, ''समाजवाद सामाजिक संगठन का वह राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्त है जो उत्पादन के साधनों, वितरण और विनिमय पर राज्य के स्वामित्व और नियन्त्रण का समर्थन करता है।''[3]

जी० डी० एच० कोल के शब्दों में, ''समाजवाद के चार परस्पर सम्बन्धित अर्थ हैं—एक ऐसा मानवीय भाईचारा जिसमें वर्ग विभाजन नहीं है—एक ऐसा सामाजिक प्रबन्ध जिसमें कोई भी अपने पड़ोसियों से इतना अधिक धनी या निर्धन नहीं है कि वे आपस में समान रूप से मिल-जुल सकें, जहां उत्पादन के सब महत्त्वपूर्ण साधनों का संयुक्त स्वामित्व और प्रयोग है और जहां अपनी क्षमता के अनुपात एक-दूसरे की सेवा करना नागरिकों की ज़िम्मेवारी है।''[4]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि, ''समाजवाद प्रचलित सामाजिक प्रबन्ध की आलोचना है, यह एक राजनीतिक आन्दोलन का दर्शन है जिसका उद्देश्य उत्पादन के साधनों, वितरण और विनिमय का समाजीकरण करना और समाज के हितों के लिए उन्हें नियन्त्रण अधीन रखने और मज़दूरों को पूंजीवाद एवं जागीरदारी प्रभुसत्ता से पूर्ण रूप से मुक्त करने के अतिरिक्त पुरुष और स्त्री में सामाजिक और आर्थिक समानता स्थापित करना है।''[1]

समाजवाद के आवश्यक लक्षण
(ESSENTIAL FEATURES OF SOCIALISM)

1. व्यक्ति की अपेक्षा समाज के महत्त्व पर अधिक बल (Socialism lays more emphasis on Society than on the Individual)—समाजवाद व्यक्तिवाद का विरोधी है और यह विचारधारा व्यक्ति के जीवन के सामाजिक पक्ष पर अधिक बल देती है। **ब्रेमले** का कथन है कि, ''समाजवाद का अर्थ व्यक्ति के हितों को समाज के हितों के अधीन करना है।''[2]

समाजवाद का उद्देश्य ऐसे उत्पादन प्रबन्ध (Production system) की स्थापना करना है जिसमें उत्पादन वैयक्तिक लाभ के उद्देश्य से नहीं, अपितु सामाजिक कल्याण के उद्देश्य से किया जाए। **मिस्टर रोशर** के अनुसार, ''समाजवाद उन प्रवृत्तियों का समर्थन करता है जो मानवीय स्वभाव से सहमत होने की अपेक्षा समस्त सामाजिक कल्याण पर अधिक बल देते हैं।''[3]

समाजवादी समाज में उत्पादन सम्पूर्ण समाज की आवश्यकताओं के अनुसार होगा। समाजवाद व्यक्तियों को आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त करना चाहता है ताकि व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें। समाजवादियों के विचार के अनुसार व्यक्ति आर्थिक चिन्ताओं से तभी स्वतन्त्र हो सकता है अगर उत्पादन, वितरण और विनिमय व्यक्ति के वैयक्तिक हितों को सम्मुख रख कर न किया जाए, अपितु यह सब कुछ समाज के कल्याण के लिए हो। सम्पूर्ण सामाजिक हितों में ही व्यक्ति के हित विद्यमान हैं। इस तरह समाजवाद व्यक्ति के हितों की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज के हितों को प्राथमिकता देता है।

2. समाजवाद पूंजीवाद का विरोधी है (Socialism is opposed to Capitalism)—पूंजीवादी प्रणाली में उत्पादन लाभ के उद्देश्य को सम्मुख रख कर किया जाता है। पूंजीपतियों का उद्देश्य उत्पादन को नहीं अपितु अपने वैयक्तिक लाभों को वढ़ाना है। दूसरे शब्दों में, अगर उत्पादन को बढ़ाने से पूंजीपतियों को कोई वैयक्तिक लाभ नहीं होता तो ये उत्पादन को बढ़ाने के लिए कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं करते। पूंजीवाद के कारण ही समाज दो श्रेणियों में बंट जाता है—एक वह वर्ग जिसके पास सम्पत्ति या उत्पादन के साधन हैं और दूसरा वह वर्ग जो मज़दूरी करके अपने जीवन का निर्वाह करता है। पूंजीवाद के कारण ही समाज की आवश्यकताओं को सम्मुख रख कर नहीं किया जाता, अपितु इसका उद्देश्य अधिक-से-अधिक धन कमाना होता है। समाजवाद इस तरह के उत्पादन प्रबन्ध के विरुद्ध है। इसलिए समाजवाद के ढांचे को ऐसे सम्मुख रख कर किया जाये और उसका आधार वैयक्तिक लाभ या लालच नहीं, अपितु समाज की सेवा हो। समाजवाद उत्पादन के साधनों को पूंजीपतियों के पंजों से मुक्त करके संयुक्त सामाजिक स्वामित्व के अधीन करना चाहता है ताकि मज़दूरों को अपनी मेहनत का फल मिल सके और समाज भी सम्पत्तिशाली और सम्पत्तिहीन दो वर्गों में बंटने से बच सके।

3. प्रतियोगिता की समाप्ति (Elimination of Competition)—समाजवाद आर्थिक क्षेत्र में मुक्त प्रतियोगिता की नीति (Policy of open competition) के विरुद्ध है। समाजवादियों की दृष्टि में खुली प्रतियोगिता की नीति भ्रष्टाचार को जन्म देती है। इसके अतिरिक्त पूंजीपति कई बार अपने वैयक्तिक लाभों के लिए गठजोड़ कर लेते हैं और उत्पादन की गति समाज की आवश्यकताओं के अनुसार नहीं, अपितु अपने वैयक्तिक लाभों को सम्मुख रखकर कम कर देते हैं। पूंजीपतियों के

ऐसे गठजोड़ के फलस्वरूप मूल्यों में वृद्धि होती है और साधारण जनता को आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ता है; इसलिए समाजवादी आर्थिक क्षेत्र में राज्य के अहस्तक्षेप की नीति (Policy of Laissez faire) का विरोध करते हैं और मुक्त प्रतियोगिता की नीति को समाप्त करके उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनों को राज्य के नियन्त्रण में करने के पक्ष में हैं।

4. वैयक्तिक सम्पत्ति का विरोध (Socialism is opposed to Private Property)—समाजवाद हर प्रकार की वैयक्तिक सम्पत्ति का विरोधी है, क्योंकि वैयक्तिक सम्पत्ति असमानताओं को जन्म देती है। समाजवादियों का विचार है कि भूमि और पूंजी पर कुछ थोड़े से व्यक्तियों का विशेषाधिकार नहीं होना चाहिए, अपितु इसका स्वामित्व संयुक्त रूप में होना चाहिए। समाजवादी भूमि को वैयक्तिक क्षेत्र में तो बिल्कुल ही नहीं रहने देना चाहते। समाजवाद किसी भी व्यक्ति को इस बात की आज्ञा नहीं दे सकता कि वह भूमि के एक टुकड़े पर अपना वैयक्तिक स्वामित्व बना ले। समाजवादियों का विचार है कि भूमिपति बिना परिश्रम किये खूब धन कमाते हैं जबकि मजदूरों को उनके परिश्रम का भी पूरा फल नहीं मिल पाता। इस तरह समाजवाद भूमि के विषय में भी वैयक्तिक स्वामित्व का कट्टर विरोधी है।

5. व्यक्तिगत उद्यम की समाप्ति (Abolition of Private Enterprise)—समाजवादी व्यक्तिगत उद्यमों को मजदूरों के शोषण का स्रोत समझते हैं। इस कारण समाजवाद उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियन्त्रण स्थापित करना चाहता है। इसका भाव यह हुआ कि समाजवादी समाज में उत्पादन के सभी महत्त्वपूर्ण साधनों का राष्ट्रीयकरण किया जाएगा। भूमि, प्राकृतिक साधन और उत्पादन के अन्य सभी महत्त्वपूर्ण साधन राज्य के नियन्त्रण के अधीन होंगे और इनका प्रयोग सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिए होगा।

6. समाजवाद का समानता में विश्वास (Belief in Equality)—आर्थिक असमानता पूंजीवाद की देन है। जिस देश में उत्पादन के साधन पूंजीपतियों के हाथ में हैं, वहां पर अवश्य ही आर्थिक असमानता उत्पन्न होगी। समाजवाद आर्थिक असमानता का विरोधी है। लावेली का कथन है कि, "प्रत्येक समाजवादी सिद्धान्त का उद्देश्य सामाजिक अवस्थाओं में अधिक-से-अधिक समानता स्थापित करना होता है। समाजवाद सभी को समान और एक स्तर पर करने वाला सिद्धान्त है।"

समानता से भाव यह नहीं है कि समाजवाद पूर्ण समानता (Absolute Equality) स्थापित करना चाहता है। गुणों के आधार पर व्यक्तियों में समानता का होना जरूरी है और समाजवाद ऐसी असमानता को स्वीकार करता है। पर धन या सम्पत्ति के आधार पर असमानता समाजवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

7. समाजवाद राज्य के कार्यक्षेत्र को बढ़ाने के पक्ष में है (Socialism supports the expansion of State Activities)—समाजवाद राज्य के कार्यों को केवल थोड़े से क्षेत्र तक ही सीमित नहीं करना चाहता, अपितु इसे महत्त्वपूर्ण कल्याणकारी कार्य सौंपने के पक्ष में है। समाजवादी विचारक इस बात की पुष्टि करते हैं कि समग्र सामाजिक कल्याण के लिए राज्य को वे सभी कार्य करने चाहिएं जो इस उद्देश्य के लिए आवश्यक हैं। आर्थिक क्षेत्र में राज्य के नियन्त्रण को स्थापित करना समाजवाद का मुख्य उद्देश्य है। इस तरह स्पष्ट है कि यदि राज्य के आर्थिक कार्यों का विस्तार होगा तो राज्य के अधिकार क्षेत्र में सर्वोन्मुखी वृद्धि होगी क्योंकि राष्ट्र के आर्थिक जीवन में सामाजिक जीवन का प्रत्येक महत्त्वपूर्ण पक्ष शामिल है।

... गांधीवादी दृष्टिकोण
(...DHIAN VIEWS REGARDING DEVELOPMENT)

विकास के विभिन्न दृष्टिकोणों में गांधीवादी दृष्टिकोण का अत्यधिक महत्त्व है। समाजवाद भौतिकवाद को महत्त्व देता है जबकि गांधीवाद आदर्शवाद पर बल देता है। ग़रीबों और दलितों के लिए गांधी जी के हृदय में अथाह स्नेह तथा हमदर्दी थी। [illegible] ने लिखा है, "आज पसीना बहाकर आज का भोजन-पानी और कल के लिए फिर पसीना बहाने की तैयारी करने के आदर्श में किसी की श्रद्धा नहीं है, पर गांधी जी की है।" विकास के सम्बन्ध में गांधीवादी विचारधारा का विवरण इस प्रकार किया जा सकता है—

1. मनुष्य भौतिक प्राणी नहीं है (Man is not an Economic being)—पूंजीवादियों व साम्यवादियों ने मानव को केवल भौतिक प्राणी ही माना है जो भौतिक सुख के लिए ही सब कुछ करता है परन्तु गांधी जी के मतानुसार यह दोनों विचार ग़लत हैं क्योंकि मानव भौतिक प्राणी नहीं है। गांधी जी का कहना था कि मानव में सौ से अधिक श्रेष्ठतर प्रवृत्तियां हैं जिनको विकसित करके वह स्थायी आत्मिक सुख का अनुभव करता है। गांधी जी के अनुसार इन्द्रिय सुख व्यक्ति के निजी स्वार्थ को जगाता है जबकि श्रेष्ठ जीवन मूल्य मानव को जन-कल्याण के लिए प्रेरित करता है। अतः गांधी जी के अनुसार मनुष्य को आत्मा का विकास करके जन कल्याण के कार्य करने चाहिएं।

2. नर सेवा नारायण सेवा (Service to Man is service to God)—भारत में आम व्यक्ति ईश्वर में आस्था रखता है और ईश्वर को प्राप्त करना चाहता है। व्यक्ति जीवन मरण के चक्कर से छूटने के लिए भगवान् की आराधना करता है। गांधी जी के अनुसार सब मनुष्य समान हैं क्योंकि सभी में भगवान् का अंश विद्यमान है। उनके मतानुसार भगवान् को पाने का सबसे सर्वोत्तम साधन मानव सेवा है। व्यक्ति को केवल ईश्वर को याद ही नहीं करना चाहिए बल्कि ईश्वर के बनाए हुए मनुष्यों की सेवा भी करनी चाहिए। मानव की सेवा करने से भगवान् शीघ्र प्राप्त होता है।

3. विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था (Decentralised Economy)—गांधी जी सब प्रकार के केन्द्रीयकरण के विरुद्ध थे। उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में सम्पत्ति के विकेन्द्रीयकरण की वकालत की। गांधी जी के अनुसार पूंजीवाद के दोषों से बचने का सबसे अच्छा उपाय आर्थिक विकेन्द्रीकरण है। विकेन्द्रीकरण करने से गांव की जनता को अधिक लाभ होगा। आर्थिक क्षेत्र में प्रत्येक गांव एक आर्थिक रूप में कार्य करेगा। प्रत्येक इकाई अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुओं का उत्पादन कर सकेगी।

4. बड़े पैमाने पर उत्पादन की हानियां (Evils of Large Scale Production)—गांधी जी बड़े पैमाने पर उत्पादन के पूंजीवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध थे। उनके मतानुसार बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से पूंजी थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है और श्रमिकों का अधिक शोषण किया जाता है। मज़दूरों के शोषण से ग़रीबी और भुखमरी में वृद्धि होती है। बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से छोटे-छोटे उत्पादक प्रतियोगिता से बाहर होकर श्रमिक वर्ग में शामिल हो जाते हैं। बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से लघु व कुटीर उद्योग नष्ट हो जाते हैं। उद्योगपतियों की नीतियों के कारण साम्राज्यवाद की नीति को बढ़ावा मिलता है व युद्धों की सम्भावना बढ़ती है। गांधी जी कुटीर उद्योगों के पक्ष में थे। खद्दर उद्योग के द्वारा ग़रीबों को काम मिलता है और पैसा भी विदेशों में नहीं जाता।

5. आर्थिक समानता (Economic Equality)—गांधी जी का अटल विश्वास था कि स्वराज्य की स्थापना के लिए आर्थिक असमानताओं को दूर करना अति आवश्यक है। गांधी जी कहा करते थे कि मैं कुछ हाथों में सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण के विरुद्ध हूं। मैं धन दौलत का अधिक-से-अधिक विकेन्द्रीयकरण चाहता हूं। गांधी जी जानते थे कि आर्थिक असमानता को समाप्त करना असम्भव है इसलिए वे अवश्य चाहते थे कि मनुष्य की आवश्यकताएं अवश्य पूरी होनी चाहिएं अर्थात् हर एक व्यक्ति को रोटी, कपड़ा व मकान अवश्य मिलना चाहिए।

6. न्यासिता की अवधारणा (Concept of Trusteeship)—गांधी जी सभी व्यक्तियों को विकास के समान अवसर देने के पक्ष में थे। वे धन के असमान वितरण को समाप्त करने के पक्ष में थे। परन्तु वे किसी अमीर व्यक्ति से ज़बरदस्ती धन छीनने के पक्ष में नहीं थे। इसलिए इस समस्या को हल करने के लिए उन्होंने 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धान्त पेश किया। इस सिद्धान्त के अनुसार जिस मनुष्य के पास धन है वह उसे समाज की अमानत समझेगा और उसका प्रयोग जन-कल्याण के लिए करेगा। गांधी जी अमीरों की अन्तरात्मा को जागृत करना चाहते थे ताकि पूंजीपति समाज के प्रति अपनी जिम्मेवारियों को समझें और जनहित में अपनी पूंजी का इस्तेमाल करें।

7. **रोटी के लिए श्रम (Bread Labour)**—गांधी जी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका के लिए कुछ शारीरिक परिश्रम अवश्य करना चाहिए। उनके अनुसार बौद्धिक काम करने वालों को भी शारीरिक श्रम अवश्य करना चाहिए। अर्थात वकीलों, डॉक्टरों, पत्रकारों, वैज्ञानिकों, अध्यापकों और बुद्धिजीवियों को कुछ न कुछ शारीरिक श्रम अवश्य करना चाहिए। बिना श्रम किए भोजन करना चोरी करने के समान है। गांधी जी के अनुसार जब सभी व्यक्ति श्रम करेंगे तो इससे श्रम को सम्मान मिलेगा और समाज से ऊँच नीच की भावना समाप्त हो जाएगी तथा अधिक उत्पादन से देश का आर्थिक विकास होगा।

8. **समाज सुधार (Social Reforms)**—महात्मा गांधी महान समाज सुधारक थे। महात्मा गांधी देश में विद्यमान सामाजिक बुराइयों से बहुत परेशान थे। गांधी जी ने छुआछूत को एक कलंक का नाम देकर इसका कड़ा विरोध किया। उन्होंने छुआछूत को खत्म करने के लिए अछूत वर्ग को एक नया नाम 'हरिजन' दिया और उन्हें सार्वजनिक कुओं से पानी भरने तथा मन्दिरों में जाने और सामाजिक जीवन में बराबर का स्तर दिलाने के लिए अथक प्रयास किए। गांधी जी जाति प्रथा के भी एकदम विरुद्ध थे। गांधी जी धर्म परिवर्तन की आधुनिक पद्धति के सख्त विरुद्ध थे। गांधी जी कहा करते थे, "कोई ईसाई डॉक्टर मुझे किसी बीमारी से अच्छा कर दे तो मैं अपना धर्म क्यों बदल लूं, या जिस समय मैं उसके असर में रहूं, तब वह डॉक्टर मुझसे इस तरह के परिवर्तन की आशा क्यों रखे या ऐसा सुझाव क्यों दे? क्या डॉक्टरी सेवा अपने-आप में ही एक पारितोषिक और सन्तोष नहीं है?" गांधी जी ने पिछड़ी जातियों और महिलाओं के उद्धार के लिए अद्भुत कार्य किए। उनका कहना था कि समाज में महिलाओं को पुरुषों के बराबर का दर्जा ही देना चाहिए क्योंकि वे बुद्धिबल में पुरुषों से किसी भी तरह कम नहीं होतीं और समाज में महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियां सम्भालती हैं। गांधी जी का कहना था, "पुरुष को महिला जन्म देती है, वह उसी की मांस हड्डियों से अपना मांस हड्डियां पाता है। इसलिए तुम अपने पैरों पर खड़ी होकर आगे बढ़ो और अपना संदेश विश्व को दे दो।" गांधी जी ने बाल विवाह का विरोध किया और विधवा विवाह का समर्थन किया। गांधी जी पूर्ण नशाबन्दी के समर्थक थे और वे गौ-रक्षा के पक्ष में थे।

9. **गांधी का सर्वोदय का आदर्श (Gandhi's Ideal of Sarvodaya)**—गांधी जी का सर्वोदय का सिद्धान्त उनकी एक महत्त्वपूर्ण देन है। सर्वोदय का सिद्धान्त तीन बातों पर बल देता है। प्रथम, हर एक व्यक्ति की भलाई सभी लोगों की भलाई में निहित है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को सभी के हित के लिए कार्य करना चाहिए।

मूल्यांकन (Evaluation)—गांधी जी का सर्वोदय का सिद्धान्त सभी के हित व विकास का एक आदर्श सिद्धान्त है। गांधी जी ने व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को साधन माना है। उनके विचारानुसार राजसत्ता का प्रयोग व्यक्ति के विकास तथा मानव कल्याण के लिए किया जाना चाहिए। गांधी जी का यह सुझाव अति महत्त्वपूर्ण है कि देश की आर्थिक समस्याओं का हल बड़े-बड़े उद्योगों तथा कारखानों में नहीं है बल्कि इनका हल लघु तथा कुटीर उद्योगों तथा स्वदेशी की भावना जागृत करके किया जा सकता है। गांधी जी एक श्रेष्ठ समाज सुधारक थे। परन्तु गांधी जी के विकास का मॉडल आधुनिक देशों द्वारा चुने गए विकास के मार्ग से मेल नहीं खाता। वर्तमान राज्य भौतिक विकास पर बल दे रहे हैं जबकि महात्मा गांधी ने धर्म व नैतिकता पर अधिक बल दिया है।

8

सूचना का अधिकार
(RIGHT TO INFORMATION)

वर्तमान युग सूचना एवं तकनीक का युग है। आधुनिक प्रजातान्त्रिक देशों में नागरिकों को कई प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं जैसे—समानता का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार तथा संवैधानिक उपचारों का अधिकार। इन अधिकारों के आधार पर प्रत्येक नागरिक अपने जीवन का सर्वांगीण विकास कर सकता है। यद्यपि लोकतान्त्रिक देशों में नागरिकों को कई अधिकार प्रदान किए जाते हैं। परन्तु कहीं-न-कहीं नागरिकों के मन में यह विचार उत्पन्न होता रहता है, कि सरकार उन्हें शासन सम्बन्धी सभी सूचनाएं उपलब्ध नहीं करा रही है और जब तक नागरिकों को यह पता न हो, कि सरकार किन-किन योजनाओं पर कार्य कर रही है, तब तक लोकतन्त्र को वास्तविक लोकतन्त्र नहीं बनाया जा सकता। इसी बात को ध्यान में रखकर विश्व के अधिकांश लोकतान्त्रिक देशों ने अपने नागरिकों को सूचना का अधिकार (Right to Information) प्रदान किया है। अब तक लगभग 55 लोकतान्त्रिक देशों ने अपने नागरिकों को सूचना का अधिकार देने के कानून बनाए हैं। इसी सन्दर्भ में भारत ने भी अपने नागरिकों को सूचना का अधिकार देने के लिए कानून बनाया है, जिसे 12 अक्तूबर, 2005 को लागू किया।

सूचना के अधिकार का ऐतिहासिक विकास
(HISTORICAL DEVELOPMENT OF RIGHT TO INFORMATION)

सूचना के अधिकार ने विकास की एक लम्बी दूरी तय है। विश्व के अलग-अलग देशों ने इस कानून को अलग समय में अपनाया है। स्वीडन विश्व का पहला देश है, जिसने सूचना के अधिकार को अपने नागरिकों को सन् 1776 में उपलब्ध कराया। स्वीडन के पश्चात् यद्यपि काफी समय तक किसी देश ने इस कानून को नहीं अपनाया, परंतु सन् 1945 के पश्चात् इस कानून को अपनाने में तेजी आई। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी सन् 1948 में अपनी घोषणा में इस कानून की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा है कि

जानकारी प्राप्त करने की इच्छा रखना, उसे प्राप्त करना तथा किसी व्यक्ति द्वारा जानकारी एवं विचारों का प्रसार करना मनुष्य का मौलिक अधिकार है।

सूचना के अधिकार को निम्नलिखित देशों ने समय-समय पर अपनाया :—

1. स्वीडन — 1776
2. संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र — 1948
3. अमेरिका — 1966
4. नार्वे — 1970
5. फ्रांस — 1978
6. न्यूज़ीलैंड — 1982
7. कनाडा — 1982
8. ऑस्ट्रेलिया — 1982
9. डेनमार्क — 1985
10. दक्षिण कोरिया — 1989
11. इटली — 1990
12. थाइलैंड — 1997
13. आयरलैंड — 1998
14. ब्रिटेन — 2000
15. यूरोपियन — 2001
16. जिम्बाब्वे — 2002
17. पाकिस्तान — 2002
18. दक्षिण अफ्रीका — 2002
19. जर्मनी — 2005
20. जापान — 2005
21. भारत चीन — 2005
22. चीन— 2008

सूचना का अर्थ
(MEANING OF INFORMATION)

सूचना का अर्थ यह है कि नागरिकों को यह ज्ञात होना चाहिए कि सरकार उनके कल्याण के लिए क्या-क्या योजनाएं बना रही है, किस योजना पर कितना धन और क्यों खर्च कर रही है। इस प्रकार की जानकारी जब हम सरकार से प्राप्त करते हैं तो इसे सूचना कहते हैं। 2005 में पारित सूचना के अधिकार के कानून में यह प्रावधान किया गया है, कि कोई भी नागरिक सलाह, विचार, ई-मेल, अभिलेख, दस्तावेज, प्रेस विज्ञापन तथा मीडिया द्वारा प्रसारित आंकड़ों से ऐसी प्रत्येक सूचना सरलता से प्राप्त कर सकते हैं, जिस तक कि किसी सार्वजनिक अधिकारी की कानूनी पहुँच हो। सूचना के अधिकार में निम्नलिखित अधिकार शामिल किए गए हैं—

(1) कार्यों, दस्तावेजों, अभिलेखों की जांच-पड़ताल का अधिकार।

(2) सामग्री के प्रमाणित नमूने लेना।

(3) दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतिलिपियां लेना।

(4) कम्प्यूटर में रखी गई सूचना प्राप्त करने के लिए डिस्केट, फ्लापी, टेप, वीडियो कैसेट या अन्य इलेक्ट्रॉनिक माध्यम या प्रिंट आउट के रूप में सूचना प्राप्त करना।

भारत में सूचना के अधिकार की आवश्यकता
(NEED OF RIGHT TO INFORMATION IN INDIA)

भारत में सूचना के अधिकार की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से अनुभव की जाती रही है—

1. महत्त्वपूर्ण सूचनाओं की जानकारी न होना (Lack of Important Information)—सरकार द्वारा कई महत्त्वपूर्ण जानकारियां एवं सूचना एकता व अखण्डता के नाम पर जारी नहीं की गई, जिस कारण सूचना के अधिकार की आवश्यकता अनुभव की गई।

2. वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना (Establishment of Real Democracy)—भारत को सच्चे अर्थों में लोकतान्त्रिक देश बनाने के लिए सूचना के अधिकार की आवश्यकता अनुभव की गई।

3. भ्रष्टाचार की समाप्ति के लिए (For abolishment of Corruption)—सरकार द्वारा सूचना प्रसारित न करने से भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है, अतः प्रशासन में से भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए सूचना के अधिकार का होना आवश्यक है।

4. कल्याणकारी एवं विकास योजनाओं की जानकारी (Knowledge of Welfare and Development Policies)—नागरिकों को इस बात की जानकारी देनी चाहिए, कि सरकार द्वारा उनके कल्याण एवं विकास के लिए क्या-क्या योजनाएं बनाई जा रही हैं, जिसके लिए सूचना के अधिकार की आवश्यकता अनुभव की गई।

5. आय एवं व्यय की जानकारी (Knowledge of Income and Expenditure)—नागरिकों को यह जानने का पूरा अधिकार है, कि सरकार किस योजना पर कितना धन खर्च कर रही है, और इसे कहां से और कितनी आय प्राप्त हो रही है।

6. लोगों की सहभागिता बढ़ाने के लिए (To Increase People Participation)—शासन की गतिविधियों में लोगों की सहभागिता बढ़ाने के लिए आवश्यक है, कि उन्हें सूचना का अधिकार दिया जाए।

7. सरकार की जवाबदेही (Accountability of Govt.)—सूचना के अधिकार से सरकार की जवाबदेही बढ़ेगी।

8. लोगों का सर्वांगीण विकास (Over All Development of the People)—सूचना के अधिकार से लोगों के सर्वांगीण विकास को बढ़ावा मिलेगा।

9. सूचना का अधिकार सभ्य मानव समाज में व्यक्ति के सम्मान एवं गौरव को बनाए रखने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। सूचना के अधिकार द्वारा कोई भी समाज देश के उद्देश्यों को प्राप्त करने में अपना योगदान दे सकता है।

10. वर्तमान समय में सूचना के अधिकार की आवश्यकता इसलिए भी है, क्योंकि यह व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक है।

सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 के मुख्य प्रावधान
(Main Provisions of Right to Information Act, 2005)

सरकारी अभिकरणों के जनता के प्रति उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करने एवं शासन में पारदर्शिता लाने के लिए संसद ने सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 का निर्माण किया। इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्नलिखित हैं–

1. **'सूचना के अधिकार' का अर्थ (Meaning of Right to Information)**–प्रत्येक भारतीय नागरिक को ऐसी सूचना प्राप्त करने का अधिकार है, जो किसी लोक प्राधिकारी के पास उपलब्ध है या उसके नियन्त्रण में उपलब्ध है। इस कानून के तहत देशवासियों द्वारा ऐसी सूचना प्राप्त की जा सकती है, जो किसी जन प्राधिकारी के पास पहले से मौजूद हो अथवा उसके नियन्त्रण में हो। केन्द्रीय सूचना अधिकारी या राज्य जन सूचना अधिकारी, जैसी भी स्थिति हो, से सूचना सृजित करने, सूचना की व्याख्या करने या आवेदनकर्ता द्वारा उठायी गयी समस्याओं का समाधान करने या काल्पनिक प्रश्नों का उत्तर देने की आशा नहीं की जा सकती है।
2. **सूचना का अर्थ (Meaning of Information)**–इस अधिनियम में सूचना को बड़े ही व्यापक तरीके से परिभाषित किया गया है। इस कारण अनेक प्रकार की जानकारियाँ, भले ही वे जिस भी रूप में हों, इसमें शामिल हो गयी हैं। इस अधिनियम के तहत कोई भी व्यक्ति अभिलेख, ई-मेल, सलाह, विचार, प्रेस विज्ञप्ति, आदेश, दस्तावेज, रिपोर्ट, नमूने व इलेक्ट्रॉनिक आँकड़ों के रूप में अंकित सूचना या निजी संस्थाओं से जुड़ी ऐसी प्रत्येक सूचना को प्राप्त कर सकता है, जिस तक किसी लोक अधिकारी की कानून के अधीन पहुँच है।
3. **सूचना पाने का क्षेत्र (Scope of Obtaining Information)**–इस अधिनियम के माध्यम से प्रत्येक नागरिक, बिना किसी अवरोध या पक्षपात के, किसी भी लोक प्राधिकारी के नियंत्रणाधीन सूचनाओं की माँग कर सकता है। उल्लेखनीय है कि 'लोक प्राधिकारी' या लोक अधिकारी पदावली के तहत न केवल केन्द्र व राज्य सरकारों के सभी विभाग और इनके द्वारा स्थापित संस्थाएँ आती हैं, बल्कि इसमें वे सभी गैर-सरकारी संगठन भी सम्मिलित हैं, जिन्हें सरकार से वित्तीय सहायता प्राप्त होती है। लेकिन कुछ विशिष्ट सुरक्षा व गुप्तचर संस्थाएँ इस अधिनियम की परिधि से बाहर रखी गयी हैं। अन्य शब्दों में, इन संस्थाओं से सूचना अधिकार के रूप नहीं माँगी जा सकती है। लेकिन यदि कोई प्रकरण भ्रष्टाचार और मानवाधिकार हनन से सम्बन्धित है, तो ये संस्थाएँ भी सूचना सम्बन्धी कानून की परिसीमा में आ जाती हैं।
4. **जन सूचना अधिकारी मनोनीत करना (Designation of Public Information Officer)**–नागरिकों तक सरकारी सूचनाओं की पहुँच सुनिश्चित करने के लिए यह अधिनियम एक अत्यन्त प्रभावकारी व्यवस्था करता है। इसके अनुसार प्रत्येक सार्वजनिक प्राधिकारी, निकाय अथवा विभाग के लिए यह कानूनी बाध्यता तय की गयी है कि वह अनिवार्य रूप से अपने यहाँ एक जन सूचना अधिकारी नियुक्त करेगा, जिसका कर्तव्य होगा-जनता द्वारा

माँगी हुई सूचनाएँ प्रदान करना। इतना ही नहीं, जन सूचना अधिकारियों के कार्यों की निगरानी रखने के उद्देश्य से इस कानून में केन्द्रीय व राज्य स्तर पर सूचना आयोगों के गठन की व्यवस्था भी की गयी है, जिससे कि नागरिकों के सूचना-सम्बन्धी अधिकार का किसी भी स्थिति में हनन न हो सके।

5. **सूचना आयोगों का गठन (Formation of Information Commssions)**—इस अधिनियम के तहत केन्द्र व राज्यों सरकारों को यह दायित्व सौंपा गया है कि वे अपने यहाँ सूचना आयोगों का गठन करें। इन आयोगों में एक मुख्य सूचना आयुक्त एवं अन्य सूचना आयुक्त होते हैं। अन्य सूचना आयुक्तों की अधिकतम संख्या 10 हो सकती है। केन्द्रीय सूचना आयोग के मुख्य सूचना आयुक्त व अन्य आयुक्तों की नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा व राज्य सूचना आयोगों के मुख्य सूचना आयुक्तों व अन्य आयुक्तों की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा पाँच वर्ष के लिए की जाती है। लेकिन यदि कोई आयुक्त अपना कार्यकाल पूरा होने से पूर्व 65 वर्ष की आयु पूरी कर लेता है, तो उसे अपना पद छोड़ना पड़ता है।

6. **सूचना प्राप्त करने की प्रक्रिया (Procedure for Obtaining Information)**—इस अधिनियम में किसी भी व्यक्ति के लिए सूचना प्राप्त करने के विषय में एक सरल प्रक्रिया का प्रावधान किया गया है। ऐसा कोई भी व्यक्ति, जो इस कानून के अधीन सूचना प्राप्त करना चाहता है, से मात्र इतनी अपेक्षा की गयी है कि वह सम्बन्धित जन सूचना अधिकारी के पास अंग्रेजी, हिन्दी या उस क्षेत्र की आधिकारिक भाषा में निर्धारित शुल्क के साथ आवेदन भेजे। स्पष्ट है कि यह अधिनियम न तो आवेदक पर सूचना माँगे जाने के कारणों को प्रकट करने की बाध्यता डालता है और न ही अन्य किसी प्रकार के असंगत व्यक्तिगत विवरण देने की बात करता है। इसके अतिरिक्त, इस अधिनियम के अनुसार यदि आवेदक गरीबी रेखा से नीचे (B.P.L.) की श्रेणी में आता है, तो ऐसी स्थिति में उसके लिए निर्धारित शुल्क जमा करने की बाध्यता भी समाप्त कर दी गयी है। इसके लिए आवेदक को गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने-सम्बन्धी दावे का प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त, आवेदक द्वारा अपना आवेदन-पत्र भूलवश किसी गलत प्राधिकारी को भेजे जाने पर यह व्यवस्था भी की गयी है कि ऐसी स्थिति में उस प्राधिकारी का यह दायित्व होगा कि वह उस आवेदन-पत्र को निर्धारित समय में सम्बन्धित विभाग या जन सूचना अधिकारी के पास भिजवाए और इस आशय की सूचना आवेदक को दे।

7. **सूचना देने के लिए निर्धारित समय-सीमा (Time-Limit for Giving Information)**—यह अधिनियम जन सूचना अधिकारी पर इस बात की बाध्यता आरोपित करता है कि वह सूचना पाने-सम्बन्धी आवेदन पत्र प्राप्त होने के 30 दिन के भीतर आवेदक को उसके द्वारा माँगी गयी सूचना उपलब्ध करवाए। यदि जन सूचना अधिकारी को आवेदन-पत्र सहायक जन सूचना अधिकारी के माध्यम से प्राप्त होता है, तो तब उसे 35 दिन के अन्दर माँगी गयी सूचना उपलब्ध करानी होती है। इसी प्रकार यदि जन सूचना अधिकारी से ऐसी सूचना माँगी जाती है, जो किसी अन्य लोक प्राधिकारी के अधीन होती है, तो जन सूचना अधिकारी को सूचना उपलब्ध कराने के लिए पाँच अतिरिक्त दिन दिए जाते हैं। यदि आवेदक द्वारा माँगी गयी सूचना किसी व्यक्ति के जीवन व स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखती है, तो ऐसी स्थिति में सम्बन्धित कार्यालय में आवेदन-पत्र प्राप्त होने के 48 घण्टों के भीतर आवेदक को सूचना उपलब्ध करानी जानी जरूरी है।

8. **सूचना के प्रकट किए जाने से छूट (Exemption from Disclosure of Information)**—इस अधिनियम के अन्तर्गत नागरिकों को सूचना पाने का अधिकार प्राप्त है, लेकिन इस बात पर भी विशेष ध्यान दिया गया है कि सूचना के अधिकार के नाम पर व्यक्ति को समाज या देश के व्यापक हित में गोपनीय रखी जाने वाली आवश्यक जानकारियों का प्रकटीकरण न हो पाए। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए इस अधिनियम द्वारा कुछ विशिष्ट प्रकार की सूचनाएँ सार्वजनिक किए जाने से छूट दी गयी है। अन्य शब्दों में, जन सूचना अधिकारी ऐसी सूचनाओं को प्रथम-दृष्टि में ही देने से इनकार कर सकता है। इस श्रेणी में आने वाली कुछ प्रमुख सूचनाएँ हैं–

(i) ऐसी सूचना, जिसके प्रकटीकरण से देश की एकता, अखण्डता, सुरक्षा, वैज्ञानिक व आर्थिक हित या दूसरे देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध प्रतिकूल रूप से प्रभावित होते हों।

(ii) ऐसी सूचना, जिसके प्रकाशन पर किसी न्यायालय ने प्रतिबन्ध लगा रखा हो।

(iii) ऐसी सूचना, जिसके प्रकट किए जाने से किसी व्यक्ति का जीवन या शारीरिक सुरक्षा अनावश्यक रूप से खतरे में पड़ जाती हो।

(iv) ऐसी सूचना, जिसके प्रकटीकरण से संसद व राज्य विधानमण्डलों के विशेषाधिकारों के हनन होने की आशंका हो।

(v) ऐसी सूचना, जो किसी अपराध को प्रेरित करने वाली हो।

(vi) ऐसी सूचना, जिसका प्रकटीकरण न्यायालय की अवमाना के अन्तर्गत आता हो।

(vii) ऐसी सूचना, जो अन्वेषण की प्रक्रिया, बंदीकरण या अपराधियों के अभियोजन को रोकने की क्षमता रखती हो।

(viii) ऐसी सूचना, जो व्यक्तिगत सूचना से सम्बन्धित हो, जिसका प्रकटीकरण किसी लोक क्रिया-कलाप या हित से सम्बन्धित न हो।

उल्लेखनीय है कि इसके बावजूद भी प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य में यदि जन सूचना अधिकारी को उपर्युक्त में से किसी सूचना का प्रकटीकरण जनहित में लाभकारी प्रतीत होता हो, तो ऐसी स्थिति में वह उक्त विषयों पर भी सहजतापूर्वक सूचनाएँ प्रदान कर सकता है।

9. **दण्ड-सम्बन्धी प्रावधान (Provisions regarding Penalties)**—यदि जन सूचना अधिकारी किसी उचित एवं तर्कसंगत कारण के बिना आवेदन-कर्ता को निश्चित समयावधि के भीतर माँगी गयी सूचना प्रदान करने में असफल रहता है या जान-बूझकर असत्य, अधूरी या भ्रामक सूचनाएँ देता है या सूचना प्रदान करने में किसी प्रकार की बाधा डालता है या फिर अपेक्षित सूचना को ही नष्ट कर देता है, तो ऐसी स्थिति में सम्बन्धित जन सूचना अधिकारी को 250 रुपए प्रति दिन का अर्थदण्ड देना होगा, जो अधिकतम 25,000 रुपए तक हो सकता है।

10. **उपचार-सम्बन्धी प्रावधान (Provisions regarding Remedies)**—इस अधिनियम की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि जन सूचना अधिकारी द्वारा इस कानून की व्यवस्थाओं का उल्लंघन किए जाने पर आवेदक को उपचार-रहित नहीं रखा गया है, बल्कि उसे यह विकल्प प्रदान किया गया है कि वह सम्बन्धित जन सूचना अधिकारी की कार्रवाइयों से संतुष्ट न होने पर उसके विरुद्ध बिना किसी भय या संकोच के दो स्तरों पर अपील कर सकता है। प्रथम अपील उसी विभाग के जन सूचना अधिकारी से पद में वरिष्ठ अधिकारी के समक्ष और द्वितीय अपील केन्द्रीय या राज्य सूचना आयोग के समक्ष की जा सकती है। उल्लेखनीय है कि यदि आवेदन कर्ता समय-सीमा के अन्दर जन सूचना अधिकारी से माँगी गयी सूचना प्राप्त नहीं करता, तो वह यह समय-सीमा समाप्त होने के 30 दिनों के भीतर प्रथम अपील कर सकता है, लेकिन प्रथम अपीलीय सत्ता के विरुद्ध वह केन्द्र राज्य सूचना आयोग में द्वितीय अपील 90 दिनों के भीतर कर सकता है। साथ ही इस अधिनियम में यह भी व्यवस्था की गयी है कि दोनो प्रकार की अपीलों का निस्तारण 30 से 45 दिनों के भीतर अवश्य कर दिया जाना चाहिए।

11. **अन्य प्रावधान (Other Provisions)**—इस अधिनियम के अनुसार केन्द्र राज्य सूचना आयोग के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की जाती है। साथ ही, इस अधिनियम में यह भी अंकित किया गया है कि यह जम्मू-कश्मीर राज्य पर लागू नहीं होगा।

सूचना के अधिकार पर सीमाएं या समस्याए

(LIMITATIONS OR PROBLEMS OF RIGHT TO INFORMATION)

12 अक्तूबर, 2005 को लागू किए गए सूचना के अधिकार कानून द्वारा नागरिकों को जहां पर वांछित जानकारी प्राप्त हो सकती है, वहीं पर इस कानून पर कुछ सीमाएं भी लगाई हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार है—

(1) देश की एकता, सुरक्षा एवं अखण्डता को हानि पहुँचाने वाली सूचना को सार्वजनिक नहीं किया जा सकता।

(2) जिन सूचनाओं पर न्यायालय ने प्रतिबन्ध लगा रखा हो, उसे भी सार्वजनिक नहीं किया जा सकता।

(3) संसद् एवं राज्य विधानमण्डलों के विशेषाधिकारों की अवहेलना करने वाली सूचना को सार्वजनिक नहीं किया जा सकता है।

(4) यदि किसी सूचना से किसी नागरिक की जान को खतरा हो तो उसे सार्वजनिक नहीं किया जा सकता।

(5) जो सूचना न्यायालयों की गरिमा को कम करे, उसे सार्वजनिक नहीं किया जा सकता।

(6) यदि किसी सूचना के प्रसारण से अपराधों को बढ़ावा मिलता है, तो इस प्रकार की सूचना को सार्वजनिक नहीं किया जा सकता।

सूचना के अधिकार कानून से सम्बन्धित अनभिज्ञता एवं निदान (Ignorance and Remedies Regarding the Law of Right to Information)

सूचना के अधिकार कानून से सम्बन्धित कई प्रकार की अफवाहें, अज्ञानता या भ्रान्तियां फैली हुई हैं, जिनका वर्णन एवं निदान इस प्रकार है—

1. अवांछित सूचनाओं की मांग (Demand of Undesirable Information)—सूचना के अधिकार से सम्बन्धित एक अफवाह या भ्रान्ति यह है कि इससे नागरिक अवांछित तथा अनावश्यक सूचनाओं की भी मांग करनी शुरू कर देंगे। परन्तु आज के समाज में इस भ्रान्ति को मानना कठिन है, क्योंकि आज किसी भी नागरिक के पास इतना समय नहीं है, कि अनावश्यक सूचनाएं प्राप्त करने के लिए अपना कीमती समय एवं धन बर्बाद करे।

2. आवेदनों की संख्या में वृद्धि (Increase in no. of Applications)—सूचना के अधिकार कानून की एक भ्रान्ति यह है, कि इससे सूचना अधिकारी के पास इतनी बड़ी संख्या में आवेदन आएंगे कि, उनको निबटाने में काफ़ी कठिनाई आएगी। परन्तु यदि सूचना अधिकारी बड़े मनोयोग, दूर दृष्टि तथा पारदर्शिता से काम करेगा तो इस समस्या से भी निबटा जा सकेगा।

3. खर्चीली विधि (Expensive Method)—सूचना के अधिकार कानून से सम्बन्धित एक अनभिज्ञता या भ्रान्ति यह है, कि इससे शासकीय खर्चे बढ़ेंगे। परन्तु सच्चाई इसके बिलकुल विपरीत है, क्योंकि यदि इस अधिकार का सही ढंग से प्रयोग किया जाए, तो भ्रष्टाचार में कमी आएगी, तथा अनावश्यक खर्चे पर लगाम लगेगी।

सूचना के अधिकार को प्रभावशाली बनाने के लिए सुझाव

(SUGGESTIONS FOR EFFECTIVE RIGHT TO INFORMATION)

सूचना के अधिकार कानून 2005 को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

1. अधिकारियों की कार्यकुशलता—सूचना के अधिकार कानून को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए यह आवश्यक है, कि जिस पर इस अधिकार को लागू करने का दायित्व सौंपा गया है, वे इसे उचित ढंग से लागू करें, उन्हें इस कानून के विषय में अच्छी जानकारी होनी चाहिए। अधिकारी ईमानदार एवं कर्त्तव्यनिष्ठ होने चाहिएं।

2. लोगों को अवगत कराना—सूचना के अधिकार कानून को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इस अधिकार के विषय में लोगों में अधिक-से-अधिक जागरुकता पैदा की जाए।

3. सरकार के कार्यों में पारदर्शिता—सूचना के अधिकार कानून को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है कि सरकार ईमानदारी, कर्मठता एवं पारदर्शिता से काम करे।

4. सूचना बोर्ड की व्यवस्था—प्रत्येक सरकारी कार्यालय के बाहर आसानी से नज़र आने वाले स्थान पर एक सूचना बोर्ड लगाया जाना चाहिए, जिस पर सूचना के अधिकार कानून से सम्बन्धित सभी सूचनाएं होनी चाहिएं।

5. नागरिकों में जागरुकता की आवश्यकता—सूचना के अधिकार को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है, कि नागरिक स्वयं प्रत्येक क्षेत्र में जागरूक बनें।

9 उपभोक्ता संरक्षण एवं कल्याण
(CONSUMER PROTECTION AND WELFARE)

उपभोक्ता संरक्षण का अर्थ (Meaning of Consumer Protection)—उपभोक्ता संरक्षण से अभिप्राय है कि उपभोक्ता वस्तुओं के खरीददारों को उत्पादकों तथा व्यापारियों के अनुचित व्यापार व्यवहारों के परिणामस्वरूप होने वाले शोषण से सुरक्षा प्रदान की जा सके। उत्पादक उपभोक्ताओं का कई प्रकार से शोषण करते हैं जैसे—(1) उत्पादन के गुणों के सम्बन्ध के गलत सूचनाएं देना, (2) मिलावट, (3) कम वजन या गलत मापों का प्रयोग करना, (4) वस्तुओं की गुणवत्ता में कमी, (5) गारण्टी की शर्तों का पालन न करना, (6) एडवांस लेने के बाद वस्तु की पूर्ति न करना और न ही एडवांस वापिस करना।

उपभोक्ताओं की समस्याएँ या शोषण
(PROBLEMS OR EXPLOITATION OF CONSUMER'S)

उपभोक्ताओं का सामान्यत: उत्पादकों, निर्माताओं तथा व्यापारियों द्वारा शोषण किया जाता है। उपभोक्ताओं को प्रतिदिन अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, क्योंकि निर्धनता, अनपढ़ता, अज्ञानता, सूचना की कमी इत्यादि बातें उनके भाग्य के साथ जुड़ी हुई हैं। अत: उपभोक्ता की मुख्य समस्याएं निम्नलिखित हैं—

1. **गुमराह करने वाले और कपटपूर्ण विज्ञापन (Misleading and Deceptive Advertisements)**—विज्ञापन मानव मस्तिष्क को प्रभावित करने वाला सबसे सशक्त माध्यम है। व्यापारिक कम्पनियों द्वारा अपने उत्पादों और सेवाओं की बिक्री के लिए करोड़ों रुपये विज्ञापन पर खर्च किए जाते हैं। अपने उत्पादों की बिक्री (Sale) को बढ़ाने के लिए भ्रमित करने वाला प्रचार किया जाता है। दूरदर्शन, आकाशवाणी, पत्र-पत्रिकाओं, साइन बोर्डों इत्यादि द्वारा किये गए प्रचार में वस्तुओं तथा

सेवाओं के गुण बढ़ा-चढ़ा कर प्रचारित किए जाते हैं। गुमराह करने वाले इन विज्ञापनों में वस्तुओं के मूल्य, मात्रा, गुणवत्ता, मानक इत्यादि पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। इस तरह गुमराह करने वाले विज्ञापन से अन्ततः उपभोक्ता को ही नुकसान उठाना पड़ता है।

2. लुभाने वाले विज्ञापन (Fraudulent Advertisement)—व्यापारिक प्रतिष्ठानों और पूंजीपतियों अथवा व्यापारियों द्वारा गुमराह करने वाला प्रचार ही नहीं किया जाता बल्कि ऐसे विज्ञापनों का सहारा भी लिया जाता है जो उपभोक्ताओं को फंसा ले। नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों की तरह उपभोक्ताओं के सामने अनेक प्रकार के विज्ञापन प्रस्तुत किए जाते हैं। ये विज्ञापन इतने लुभावने होते हैं कि इनमें उपभोक्ता की उत्सुकता बढ़ती है जैसे—बच्चों के उत्पाद बनाने वाली कोई कम्पनी अपना विज्ञापन इस प्रकार जारी करती है—''इसके बिना आपके बच्चे का विकास रुक जाएगा, इसलिए नाश्ते में अपने बच्चे को यह अवश्यक सेवन कराएं।'' टूथपेस्ट बनाने वाली कम्पनी का विज्ञापन हो सकता है, ''आपके दांतों की दुर्गन्ध से आपका परिवार टूट सकता है।'' इसी प्रकार किसी कम्पनी विशेष का उत्पाद प्रयोग न करने पर कोई आपके सफेद बालों को देखकर असमय ही आपको अंकल अथवा आंटी कहने की जुर्रत कर सकता है जो आपको चिन्ता में डाल सकती है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के आकर्षक, लुभावने और फंसाने वाले (Baiting) विज्ञापनों का उद्देश्य एक ही होता है कि किसी न किसी प्रकार से उपभोक्ता के मनो-मस्तिष्क को प्रभावित किया जाए और उसे अपने उत्पाद खरीदने के लिए प्रेरित किया जाए।

3. उपहार व पुरस्कार की योजनाएं (Scheme of Gifts and Prizes)—आजकल व्यापारियों, दुकानदारों व बड़ी कम्पनियों द्वारा ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए कई प्रकार के उपहारों अथवा पुरस्कारों की व्यवस्था की गई है। कई बार तो किसी उत्पाद के खरीदने पर एक योजना (Scheme) होती है, जिसमें ईनामस्वरूप भारी धन राशि अथवा उतने मूल्य के सामान की बात होती है। जैसे—कम्पनियों द्वारा इस प्रकार की योजना पेश की जाती है कि एक रंगीन टी० वी० की खरीद पर एक ऑटोमैटिक कैमरा मुफ्त दिया जाएगा या हज़ार रुपये तक के जूते खरीदने पर एक बैग मुफ्त दिया जाएगा। वास्तव में इन उपहारों अथवा योजनाओं से पहले तो सामान/ईनाम बहुत चक्कर काटने के बाद मिलता है और यदि मिल भी जाए तो वह एकदम घटिया होता है। वास्तविकता तो यह है कि इन योजनाओं, पुरस्कारों अथवा उपहारों में मिलने वाले सामान को कीमत को मूल वस्तु की कीमत में पहले ही जोड़ दिया जाता है, जिससे उपभोक्ता को कोई लाभ नहीं होता। ये उपहार अथवा योजनाएं उपभोक्ता की जेब से धन निकालने वाले सुन्दर उपकरण मात्र हैं।

4. वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि (Increase in the Price of Commodities)—व्यापारिक कम्पनियों द्वारा उपभोक्ता वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने के जिन उचित अथवा अनुचित माध्यमों का सहारा लिया जाता है, उससे वस्तुओं की कीमतें आसमान छूने लगी हैं। जो करोड़ों रुपया वस्तुओं के विज्ञापन पर खर्च किया जाता है, वह सब उपभोक्ताओं की जेब से निकालना होता है। इससे घटिया और निम्न-स्तरीय वस्तुओं की कीमतों में भी वृद्धि हुई है। वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि से जमाखोरी (Hoarding), कालाबाज़ारी (Black-Marketing), कृत्रिम अभाव (Artifical Scarcity) एवं सट्टेबाज़ी जैसी दुष्प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलता है। वस्तुओं की बढ़ती हुई कीमतों से न सिर्फ उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति (Purchasing Power) घट रही है, बल्कि उनके शोषण की संभावना भी बढ़ रही है।

5. निम्न-स्तरीय उत्पाद (Poor Quality Products)—आकर्षक और गुमराह करने वाला प्रचार वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने में सहायता करता है। लेकिन व्यापारी वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने और लाभ के चक्कर में उपभोक्ताओं को घटिया और निम्न-स्तरीय वस्तुएँ बेच रहे हैं। इन वस्तुओं की गुणवत्ता (Quality) पर नहीं बल्कि मात्रा (Quantity) पर ध्यान दिया जाता है। वस्तुओं और यहां तक कि सेवाओं का वह घटियापन प्रतिदिन असंख्य लोगों के लिए समस्या बना हुआ है। उदाहरणतया—घरेलू प्रयोग में आने वाले उपकरण, प्रेशर कूकर, स्टोव, बिजली के उपकरण, कुकिंग गैस, फर्नीचर व अन्य कल-पुर्जे निम्न-स्तरीय गुणवत्ता के कारण प्रतिदिन अनेकों घटनाओं को जन्म देते हैं, जिसके फलस्वरूप मौतें होती हैं। उपभोक्ता वस्तुओं का घटिया स्तर न केवल आर्थिक क्षति पहुँचाता है बल्कि मानसिक आघात भी पहुंचाता है। उपभोक्ता वस्तुओं का घटियापन वास्तव में एक बड़ी भारी समस्या है, जिसका लगभग सभी उपभोक्ता सामना कर रहे हैं।

6. नकली वस्तुएं (Spurious Product)—आजकल असली वस्तुओं के साथ-साथ नकली वस्तुएं भी भारी मात्रा में बाज़ार में आ रही हैं। नकली वस्तुएं अपने आकार, पैकिंग, वज़न, रंग और कई बार नाम तक में असली वस्तुओं को मात कर रही हैं। नकली वस्तुओं तथा असली वस्तुओं में कई बार इतना सूक्ष्म अंतर होता है कि एक सामान्य उपभोक्ता के लिए उसे पहचानना कठिन हो जाता है। इन उत्पादों का पता उसी समय चल पाता है, जब इनका प्रयोग किया जाता है। आज कोई भी व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता है कि वह केवल असली वस्तुएं खरीदता है। नकली वस्तुएं चाहे वह दवाई, खाद्यान्न, घरेलू उपकरण, फैक्टरियों के कलपुर्जे अथवा प्रतिरक्षा का सामान ही क्यों न हो सभी जगह और सभी रूपों में मौजूद हैं। नकली

वस्तुएं उपभोक्ता पर नकारात्मक प्रभाव डालती हैं। कई बार दवाई जैसी प्राणदायिनी वस्तु तो नकली होने के कारण प्राण लेने वाली बन जाती है। इस तरह नकली वस्तुएं भी उपभोक्ता के लिए एक भारी समस्या बनी हुई हैं।

7. गारण्टी का न होना (Unguarrented Products)—आजकल उपभोक्ताओं की एक प्रमुख समस्या यह भी है कि उन्हें खरीदी गई वस्तु की कोई गारण्टी नहीं दी जाती है। इससे वस्तु की विश्वसनीयता के प्रति शंका उत्पन्न होती है। व्यापारिक प्रतिष्ठानों में प्राय: मोटे शब्दों में "फैशन के दौर में कोई गारण्टी नहीं" (No Guarrentee in the age of Fashion) लिखा होता है। गारण्टी अथवा प्रतिभूति के अभाव में उपभोक्ता की उदासीनता बढ़ती है। अधिक मूल्य देने पर भी वस्तु के घटिया होने अथवा टिकाऊ न होने पर उपभोक्ता परेशान हो जाता है।

8. उपभोक्ता वस्तुओं में मिलावट (Adulteration in Goods)—व्यापारी एवं दुकानदार मात्र अपने लाभ के लिए बड़ी चतुराई से उपभोक्ता वस्तुओं में मिलावट करते हैं। वे इससे उपभोक्ता के स्वास्थ्य पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव की चिन्ता नहीं करते। आजकल चावल, दालें, मिर्च-मसाले, चने, हल्दी, घी इत्यादि में भारी मिलावट की शिकायतें मिलती हैं। उपभोक्ता का यह कहना है कि वह कंकड़ों में से चावल चुन रहा है निश्चित रूप से मिलावट की समस्या को उजागर करता है। घी में पशुओं की चर्बी मिलाना, चने और दालों में हानिकारक बीज मिलाना, मिर्च पाउडर में लकड़ी का बुरादा मिलाना, चाय में लकड़ी के बुरादे को रंग कर मिलाना, शहद में चीनी की चासनी मिलाना, दूध में पानी मिलाना, सिन्थेटिक दूध बेचना इत्यादि मिलावट के कुछ ऐसे उदाहरण हैं, जिनका उपभोक्ताओं को प्रतिदिन सामना करना पड़ता है। यद्यपि उपभोक्ता वस्तुओं में मिलावट जैसा अनैतिक और अमानवीय कार्य एक दण्डनीय अपराध है, फिर भी व्यापारी अथवा दुकानदार अधिकारियों की मिलीभगत से इसे जारी रखे हुए हैं। यह सब अंतत: उपभोक्ता के लिए कष्टकारी साबित होता है।

9. मानक रहित उत्पाद (Unstandardisation of Product)—सरकार अथवा स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा केवल कुछ ही उपभोक्ता वस्तुओं को मानक (Standard) प्रदान किए गए हैं। ये मानक जैसे आई० एस० आई०, एगमार्क, वस्तु की गुणवत्ता तथा विश्वसनीयता की पहचान माने जाते हैं। लेकिन ये मानक उन बहुत-सी वस्तुओं को प्राप्त नहीं होते जिनका उपभोक्ता प्रयोग करता है। ऐसी स्थिति में मानक रहित वस्तु घटिया और निम्न-स्तरीय हो सकती है जिससे उपभोक्ता को नुकसान उठाना पड़ता है।

10. उपभोक्ता के लिए अनुबन्ध एक कल्पना है (Contract is Myth for Consumer)—भारतीय अनुबंध अधिनियम, 1872 (Indian Contract Act, 1872) के अनुसार परस्पर सहमति द्वारा दो पार्टियों (विक्रेता तथा क्रेता) में अनुबंध हो सकता है। परन्तु वर्तमान समय में अनुबंध का स्वरूप काफी बदल गया है। उपभोक्ता के लिए अनुबंध की स्वतंत्रता एक कल्पना बन गई है। आज अधिकांश अनुबंध एक पक्षीय होते हैं, जिन्हें विक्रेता द्वारा खरीददारों के सामने रखा जाता है। खरीददार के लिए अनुबंध को स्वीकार करने या अस्वीकार करने का अधिकार तो है परन्तु यदि वह अनुबंध को अस्वीकार करता है तो उसे उस वस्तु से भी हाथ धोना पड़ता है। अत: व्यवहार में उपभोक्ता की कोई स्वतंत्रता नहीं है। इस प्रकार के अनुबंध को Standard from Contract कहा जाता है। उदाहरण के लिये यदि आप गैस, बिजली, टेलीफोन आदि कनैक्शन लेते हैं तो आपको उनकी शर्तें भी स्वीकार करनी पड़ती हैं।

11. अनुचित व्यापारिक व्यवहार (Unfair Trade Practices)—व्यापारी वर्ग में निर्माता कई प्रकार की व्यापारिक क्रियाएँ अपनी वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने के लिए करते हैं। इसके लिए कोई भी अनुचित विधि व विज्ञापन, प्रोन्नति प्रतियोगिता (Promotional Contests), नि:शुल्क उपहार व लक्की ड्रा स्कीम आदि उपाय अपनाते हैं। वे इस बात का झूठा प्रचार करते हैं कि उनकी वस्तुओं की गुणवत्ता बहुत ऊँची है और कीमतें बहुत कम हैं।

12. सरकारी सेवाओं का अनुचित व्यवहार (Unjust Behaviour of Govt. Services)—प्रतिदिन लाखों, करोड़ों लोगों को सरकार की क्रिया-विधियों से संलग्न रहना पड़ता है और सरकारी सेवाओं का उपभोग करना पड़ता है। लेकिन कई बार सरकार का अनुचित व्यवहार उपभोक्ताओं के लिए एक भारी समस्या बन जाता है। मान लीजिए आप रेलवे से मध्य रात्रि को जाने के लिए एक सीट आरक्षित करवाते हैं; लेकिन यदि आपकी आरक्षित सीट पर अन्य व्यक्ति बैठ जाए तो आप वहां नि:सहाय हो जाते हैं। आपके लिए दो ही विकल्प बचेंगे—या तो आप खड़े होकर यात्रा करें अथवा आपकी सीट पर बैठे हुए यात्री से झगड़ा करके उसकी शिकायत करें। इसी तरह बस में भी यदि आपको ऐसी सीट दे दी जाए जिसकी खिड़की का शीशा टूटा हुआ हो तब भी आपको या तो चुपचाप वही ठंडी हवा सहन करते हुए यात्रा करनी होगी या फिर बस से नीचे उतरना होगा। इसी प्रकार के अन्य कई ऐसे अनुचित व्यवहार हैं जो नौकरशाही की सेवाओं के निरंकुश व्यवहार के कारण पनपते हैं। इन सबसे उपभोक्ता निरंतर जूझता है।

13. दोषपूर्ण सेवाएँ (Deficiency of Services)—उपभोक्ताओं को सेवाओं के कारण ही कष्ट उठाना पड़ता है तथा परेशान होना पड़ता है। उदाहरण के लिए डाकघर द्वारा पत्रों को अनावश्यक देरी से पहुँचाना, बिजली व टेलीफ़ोन विभागों द्वारा

गलत बिल देना, बार-बार बिजली का जाना व टेलीफ़ोन का खराब होना, बीमा दुर्घटना दावों को देरी से हल करना आदि दोषपूर्ण सेवाओं के कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं।

14. सेवा में उपेक्षा (Negligence in Service)—उपभोक्ता के शोषण का एक महत्त्वपूर्ण कारण सेवा में उपेक्षा है। उदाहरण के लिए सरकारी अस्पतालों में डॉक्टर मरीज़ों की उचित चिकित्सा नहीं करते। हम कई बार समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं कि ऑप्रेशन करते हुए मरीज़ के पेट में उपकरण आदि रह जाते हैं जिससे कई बार मरीज़ की मृत्यु हो जाती है। अस्पतालों में संक्रमण (Infection) से भी कई बार मरीज़ों की मृत्यु हो जाती है।

15. एकाधिकार व्यापार व्यवहार (Monopolistic Trade Practices)—जिन वस्तुओं के उत्पादन में एकाधिकार होता है, उनमें निर्माता उपभोक्ताओं का कई प्रकार से मनमाने ढंग से शोषण करते हैं। वे जब चाहते हैं कीमतों में वृद्धि कर देते हैं और उत्पादन में कमी करके काला बाज़ारी को बढ़ावा देते हैं। वस्तुओं और सेवाओं की गुणवत्ता (Quality) में कमी करके अनुचित लाभ उठाते हैं।

उपभोक्ताओं के अधिकार
(RIGHTS OF CONSUMER)

उपभोक्ताओं को अपने संरक्षण के लिए क्या अधिकार हैं, इस सम्बन्ध में 15 मार्च, 1962 को तत्कालीन अमेरिकन राष्ट्रपति
जॉन एफ० कैनेडी ने कांग्रेस को एक विशेष संदेश उपभोक्ता सहित सुरक्षा (Special Message on protecting the
Consumer's Interest) पर भेजा था, जिसमें उन्होंने उपभोक्ता के चार अधिकारों का उल्लेख किया था— (1) सुरक्षा का
अधिकार (Right to Safety) (2) सूचना प्राप्ति का अधिकार (Right to be Informed),
(3) चुनने का अधिकार (Right to Choose), (4) सुने जाने का अधिकार (Right to be Heard).
उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की धारा छः के अधीन उपभोक्ता को निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं :—
1. सुरक्षा का अधिकार (Right to Safety)—उपभोक्ता का अधिकार है कि उसको बाज़ार में उपलब्ध उन वस्तुओं
से बचाया जाए जो स्वास्थ्य तथा जीवन के लिए खतरनाक हैं। जैसे—त्रुटिपूर्ण बिजली के उपकरण, नकली दवाइयाँ,
मिलावटपूर्ण वस्तुएँ इत्यादि।
2. सूचना प्राप्ति का अधिकार (Right to be Informed)—उपभोक्ता को अधिकार है कि उनको उन तथ्यों की
जानकारी दी जाए जिनके आधार पर वस्तुओं की खरीददारी की जा सके। उसको धोखे, गलत सूचनाएँ, अवांछनीय विज्ञापन
आदि से बचाया जाए।
3. चयन का अधिकार (Right to Choose)—उपभोक्ता को अधिकार है कि उसे विभिन्न वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्रतियोगी
कीमतों पर प्राप्त हों। उसको अधिक दबाव व आक्रामक बिक्री कला का शिकार न बनाया जाए। जिन वस्तुओं में प्रतियोगिता
नहीं है, उन पर सरकारी नियंत्रण होना चाहिए ताकि उपभोक्ता को संतोषजनक सेवा व वस्तुएं उचित मूल्य पर प्राप्त हों।
4. सुनने का अधिकार (Rights to be Heard)—उपभोक्ता को अधिकार है कि सरकारी नीति बनाते समय उसके हित
का पूरा ध्यान रखा जाए और उचित ढंग से सुना जाए। उपभोक्ता को विरोध और शिकायतें दर्ज कराने का अधिकार है।
5. निवारण करने का अधिकार (Right to seek Redressal)—उपभोक्ता को शोषण के विरुद्ध उसे निवारण या दूर
करने का अधिकार प्राप्त है। विनिर्माताओं और विक्रेताओं के विरुद्ध अपने दावों (claims) के प्राप्त करने और शिकायतों के
हल होने का अधिकार उसे प्राप्त हो।

6. उपभोक्ता शिक्षा का अधिकार (Right to Consumer Education)—... भोक्ता शिक्षा प्राप्त करना है। उपभोक्ता शिक्षा द्वारा उपभोक्ता अपने आपको गुमराह और कपटपूर्ण विज्ञापनों से बचा सकता है।

उपभोक्ता के संरक्षण की आवश्यकता तथा महत्त्व (NEED AND IMPORTANCE OF CONSUMER'S PROTECTION)

उपभोक्ता के संरक्षण की आवश्यकता तथा महत्त्व को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

1. अनुचित और कपटपूर्ण व्यवहार (Unfair and Deceptive Trade Practices)—दोषपूर्ण एवम् निम्न कोटि की वस्तुओं की बिक्री, अधिक कीमतें लेना, सुरक्षा मानकों की अवहेलना इत्यादि अनुचित और कपटपूर्ण व्यवहार उत्पादकों तथा व्यापारियों को उपभोक्ताओं के प्रति अधिक उत्तरदायी बनाता है। अतः यह आवश्यक है कि उपभोक्ता एक जुट हो जाएं और अपनी शिकायतों का संतोषजनक समाधान करें।

2. अन्य देशों का प्रभाव (Impact of other Countries)—अमेरिका, इंग्लैंड आदि देशों में उपभोक्ता संरक्षण नियमों का सख्ती व प्रभावशाली ढंग से पालन किया जाता है, जिसका भारत पर भी प्रभाव पड़ा है। अतः भारत में भी उपभोक्ता संरक्षण की आवश्यकता को महसूस किया जा रहा है।

3. कल्याणकारी राज्य (Welfare State)—भारत एक कल्याणकारी राज्य है। भारतीय संविधान के निर्देशक सिद्धांतों में स्पष्ट कहा गया है कि राज्य अपनी आर्थिक नीति का निर्माण इस प्रकार करेगा, जिससे उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण न हो। सरकार ने उपभोक्ताओं के हितों को ध्यान में रखते हुए एकाधिकारात्मक तथा प्रतिबंधात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम 1969 पारित किया। 1991 में इस एक्ट में कई महत्त्वपूर्ण संशोधन किए गए।

4. लंबी कानूनी प्रक्रिया (Lengthy Legal Process)—उपभोक्ता के पास अपनी शिकायतों के समाधान के लिए दीवानी मुकद्दमा करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है जोकि एक सामान्य उपभोक्ता के लिए आसान कार्य नहीं है। दीवानी मुकद्दमे में धन और समय की बर्बादी होती है और मानसिक तनाव भी रहता है। ऐसे मुकद्दमे वर्षों तक चलते रहते हैं। अतः उपभोक्ता के हितों की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे अधिनियम बनाए जाएं ताकि न्याय शीघ्र और कम खर्च पर प्राप्त हो।

5. न्यायिक प्रणाली की भूमिका (Role of Judicial System)—उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 ने, जिसमें 1993 में संशोधन किया गया, सर्वोच्च न्यायालय को व्यापक अधिकार प्रदान किये। सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका के कारण उपभोक्ता संरक्षण के उपाय सरल, प्रभावशाली तथा कम खर्चीले हो गये हैं।

6. लोक अदालतें (Lok Adalats)—लोक अदालतों की धारणा भारत में बड़ी तेज़ी से लोकप्रिय हो रही है। लोक अदालतों ने विशेष रूप से मोटर-दुर्घटना से संबंधित लाखों मामले निपटाए हैं। लोक अदालत की धारणा अब अन्य क्षेत्रों में भी लागू की जा रही है।

7. परिवहन तथा संचार के साधन (Means of Transport and Communication)—परिवहन तथा संचार के साधनों के विकास के फलस्वरूप संसार के सभी उपभोक्ता एक-दूसरे के बड़े समीप आ गए हैं। टी० वी० व केबल नेटवर्क के माध्यम से भी शक्तिशाली प्रदर्शन प्रभाव (Demonstration Effect) पड़ा है। इससे उपभोक्ताओं में यह चेतना पैदा हो गई है कि उनका निर्माताओं, व्यापारियों व उद्योगपतियों द्वारा शोषण नहीं किया जा सकता और न ही उनको उपभोक्ता के अधिकारों से वंचित किया जा सकता है।

8. सार्वजनिक हित के मुकद्दमों की धारणा (Concept of Public Interest Litigation)—उपभोक्ताओं के संरक्षण के लिए सार्वजनिक हित के मुकद्दमों (P.I.L.) के द्वारा कई याचिकाएँ उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालयों में डाली गई हैं। सार्वजनिक हित के मुकद्दमों की धारणा ने उपभोक्ता संरक्षण को काफ़ी मज़बूत बनाया है।

9. उपभोक्ताओं की जागरुकता (Consumer's Awareness)—शिक्षा के विस्तार से लोगों में उपभोक्ताओं के रूप में अपने अधिकारों के प्रति जागरुकता आई है और वे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ने के लिए भी तैयार हैं।

10. उपभोक्ता संगठन (Consumer's Organisation)—इस समय भारत में 500 से अधिक उपभोक्ता संगठन पाए जाते हैं। इन उपभोक्ता संगठनों ने उपभोक्ता के हितों की सुरक्षा के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। Consumer's Guidance Society of India, (Bombay); Consumer's Action Forum Delhi, Calcutta and Madras; Common Cause New Delhi; etc. अति महत्त्वपूर्ण उपभोक्ता संगठन हैं।

11. उपभोक्ता संरक्षण पर राष्ट्रीय अवार्ड (National Awards on Consumer Protection)—उपभोक्ता व्यक्तिगत तथा स्वैच्छिक संगठनों द्वारा उपभोक्ताओं के हितों के लिए किए गए कार्यों तथा योगदान के लिए भारत सरकार से राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदान करती है। इससे लोगों में उपभोक्ता संरक्षण के प्रति जागरूकता व रुचि में वृद्धि होती है।

भारत में उपभोक्ता संरक्षण
(CONSUMER PROTECTION IN INDIA)

भारत में उपभोक्ता संरक्षण के लिए राज्य व केन्द्र के लगभग 30 अधिनियम हैं जिनमें महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित हैं :—

1. औषधि एवं सौन्दर्य अधिनियम।
   (Drugs and Cosmetics Act, 1940)
2. खाद्य मिलावट निवारण अधिनियम।
   (Prevention of Food Adulteration Act, 1954)
3. 1955 का आवश्यक वस्तुओं सम्बन्धी कानून।
   (The Essential Commodities Act, 1955)
4. 1969 का अजारेदारी एवं सीमितकारी व्यावसायिक व्यवहारों सम्बन्धी कानून।
   (The Monopolies and Restrictive Trade Practices Act, 1969)
5. 1976 का मानक नाप-तोल सम्बन्धी कानून।
   (The Standard of weight and Measure Act, 1976)
6. 1976 का खाद्य में मिलावट रोक सम्बन्धी कानून।
   (The Prevention of Food Adulteration Act, 1976)
7. 1980 का काला धन्धा रोक एवं आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति को कायम रखने सम्बन्धी कानून।
   (The Prevention of Black Marketing Maintenance and Supplies of Essential Commodities Act, 1980)

भारत में उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा के लिए 1986 में भारत सरकार ने एक विशेष कानून बनाया था। इस कानून को उपभोक्ता सुरक्षा कानून (Consumer Protection Act, 1986) कहा जाता है। यह कानून 15 अप्रैल, 1987 को लागू हुआ था। जम्मू-कश्मीर राज्य के अतिरिक्त भारतीय संघ के अन्य सभी राज्यों में इस कानून की व्यवस्थाएं लागू होती हैं। इस कानून में कुछ परिवर्तन 1993 में किए गए थे। इस कानून का मुख्य उद्देश्य उपभोक्ता के हितों की सुरक्षा करना है। इस कानून की कुछ महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाएं इस प्रकार हैं :—

(1) उपभोक्ता कौन है ? (Who is a Consumer ?)—1986 के इस कानून ने उपभोक्ताओं की परिभाषा विशेष रूप में दी है। इस कानून अनुसार जो व्यक्ति मूल्य देकर कोई चीज़ खरीदता है अथवा किसी प्रकार की सेवा प्राप्त करता है, वह व्यक्ति कानून की दृष्टि में उपभोक्ता है। जब कोई व्यक्ति अपने प्रयोग के लिए किसी भी तरह की सामग्री अथवा माल खरीदता है तो उसके बदले में वह कुछ धन देता है। धन देने वाला व्यक्ति उपभोक्ता है और कीमत अथवा धन लेने वाला व्यक्ति विक्रेता है। माल के क्रय-विक्रय सम्बन्धी पहले यह नियम प्रचलित था कि माल क्रय करने वाला व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व पर माल खरीदता था एवं उसको इस सम्बन्धी चौकन्ना रहने की आवश्यकता थी। किन्तु आधुनिक कल्याणकारी राज्य में अब यह नियम भी प्रचलित है कि विक्रेता भी अपना माल बेचने सम्बन्धी उत्तरदायी है एवं उसको भी उन शर्तों की पूर्ति सम्बन्धी चौकन्ना रहना चाहिए जिन शर्तों के आधार पर वह माल बेच रहा है।[1]

यदि कोई व्यक्ति कुछ धन के बदले डाक-तार, बिजली, पानी, अथवा किसी भी अन्य प्रकार की सेवा प्राप्त करता है तो 1986 का उपभोगी सुरक्षा कानून उसको उपभोक्ता मानता है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) के निर्णय के अनुसार डॉक्टर से इलाज करवाने वाला मरीज़ भी कानून की दृष्टि में उपभोगी है।

(2) उपभोक्ता सुरक्षा परिषद् की व्यवस्था (Provision of Consumer Protection Councils)—1986 के उपभोक्ता सुरक्षा कानून ने दो प्रकार की उपयोगी सुरक्षा परिषदों की व्यवस्था की है। इन परिषदों के नाम इस प्रकार हैं :—

(i) केन्द्रीय उपभोक्ता सुरक्षा परिषद् (Central Consumer Protection Council)
(ii) राज्य उपभोक्ता सुरक्षा परिषदें (State Consumer Protection Councils)

केन्द्रीय उपभोक्ता सुरक्षा परिषद्
(CENTRAL CONSUMER PROTECTION COUNCIL)

केन्द्रीय परिषद् की रचना (Composition of Central Council)—केन्द्रीय परिषद् में कुल 150 सदस्य होते हैं, जो निम्नलिखित वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं—

(क) केन्द्रीय सरकार का खाद्य-आपूर्ति मन्त्री इस परिषद् का अध्यक्ष होता है।
(ख) केन्द्रीय सरकार के खाद्य-आपूर्ति मन्त्रालय का राज्य मन्त्री, परिषद् का उपाध्यक्ष होता है। अगर राज्य मन्त्री के पास विभाग का पूर्ण नियन्त्रण हो तो ऐसी स्थिति में इस विभाग का उप-मन्त्री केन्द्रीय परिषद् का उपाध्यक्ष होता है।
(ग) भारतीय संघ के राज्यों के खाद्य-आपूर्ति मन्त्री अथवा राज्यों के उपभोक्ता मामलों के मन्त्री।
(घ) पाँच सदस्य लोकसभा के और तीन सदस्य राज्यसभा में से लिए जाते हैं।
(ङ) अनुसूचित जातियों और कबीलों का कमिश्नर।
(च) केन्द्रीय सरकार के विभागों और उपभोक्ता हितों से सम्बन्धित स्वाधीन संगठनों के प्रतिनिधि। ऐसे प्रतिनिधियों की संख्या 20 से अधिक नहीं हो सकती है।
(छ) उपभोक्ताओं एवं उपभोक्ता संगठनों के प्रतिनिधियों की संख्या 35 से कम नहीं हो सकती है।
(ज) स्त्रियों के प्रतिनिधियों की संख्या 10 से कम नहीं हो सकती है।
(झ) किसानों, व्यापारियों और उद्योगों के प्रतिनिधियों की संख्या 20 से अधिक नहीं हो सकती है।
(ञ) उपर्युक्त प्रतिनिधियों के अतिरिक्त अधिक-से-अधिक ऐसे 15 प्रतिनिधि जो उपभोक्ता के हितों का प्रतिनिधित्व करने की योग्यता रखते हैं।
(ट) खाद्य-आपूर्ति विभाग का सचिव केन्द्रीय परिषद् का सचिव होता है।

केन्द्रीय परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा तीन वर्ष के लिए की जाती है। केन्द्रीय परिषद् की बैठक एक वर्ष में होनी आवश्यक है। इस परिषद् की बैठकों की अध्यक्षता परिषद् का अध्यक्ष करता है। यदि किसी कारण वह उपस्थित न हो तो उसके स्थान पर उपाध्यक्ष परिषद् की बैठकों का सभापतित्व करता है। केन्द्रीय परिषद् का मुख्य कार्य उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा सम्बन्धी अपनी सिफारिशें प्रस्तावों के रूप में केन्द्र सरकार को पेश करना है। केन्द्रीय परिषद् का प्रत्यक्ष रूप में उपभोगियों के साथ सम्बन्ध है।

राज्य उपभोक्ता सुरक्षा परिषदें
(STATE CONSUMER PROTECTION COUNCILS)

सन् 1986 के उपभोक्ता सुरक्षा कानून के अधीन प्रत्येक राज्य में उपभोक्ता परिषद् (State Consumer Protection Council) की व्यवस्था की है। इस कानून के अनुसार प्रत्येक राज्य सरकार अपने राज्य में इस तरह की परिषद् की स्थापना करेगी। राज्य परिषद् में निम्नलिखित सदस्य सम्मिलित किए जाते हैं :—

(क) राज्य सरकार का वह मन्त्री जो उपभोक्ता मामलों का इन्चार्ज है। वह मन्त्री ही राज्य परिषद् का अध्यक्ष होता है।

(ख) भिन्न-भिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले सरकारी अथवा गैर-सरकारी सदस्य। ऐसे सदस्यों की संख्या सम्बन्धी निर्णय सम्बन्धित राज्य सरकार द्वारा किया जाता है।

एक वर्ष में राज्य परिषद् की दो बैठकें होनी अनिवार्य हैं। यदि परिषद् की बैठक के लिए तिथि एवं स्थान का निर्णय राज्य परिषद् के अध्यक्ष द्वारा किया जाता है। उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा सम्बन्धी अपनी सिफारिशें राज्य परिषद् सम्बन्धित राज्य सरकार को देती है।

उपभोक्ता झगड़े निवारण संगठन
(CONSUMER DISPUTES REDRESSAL AGENCIES)

1986 के उपभोक्ता सुरक्षा कानून ने उपभोक्ताओं की शिकायतों को दूर करने के लिए तीन स्तरीय 'उपभोक्ता झगड़े निवारण संगठन' की व्यवस्था की है। यह तीन सदस्यीय संगठन इस प्रकार हैं :—

(क) ज़िला फोरम (District Forum)

(ख) राज्य आयोग (State Commission)

(ग) राष्ट्रीय आयोग (National Commission)

इन तीन स्तरीय संगठनों की रचना एवं कार्यों का संक्षेप विवरण इस प्रकार है :—

ज़िला फोरम
(DISTRICT FORUM)

ज़िला फोरम की रचना (Composition of the District Forum)—ज़िला फोरम की स्थापना प्रत्येक ज़िले में वहां की राज्य सरकार द्वारा की जाती है। यदि राज्य सरकार अनिवार्य समझे तब एक ज़िले में एक से अधिक ज़िला फोरम भी स्थापित किए जा सकते हैं। प्रत्येक ज़िला फोरम में एक प्रधान एवं दो अन्य सदस्य होते हैं। प्रधान के पद के लिए केवल ऐसा व्यक्ति ही नियुक्त किया जाता है जो ज़िला न्यायाधीश (District Judge) के पद पर कार्य कर रहा है अथवा ज़िला न्यायाधीश रह चुका है अथवा ज़िला न्यायाधीश बनने की योग्यता रखता है। अन्य दो सदस्य ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनको अर्थशास्त्र, कानून, वाणिज्य, लेखा, उद्योग, संवैधानिक मामलों अथवा प्रशासन का अधिक ज्ञान अथवा अनुभव हो। इन दो सदस्यों में से एक स्त्री का होना अनिवार्य है।

ज़िला फोरम के सदस्यों की नियुक्ति एवं कार्यकाल (Appointment and Tenure of members of District Forum)—ज़िला फोरम के सदस्यों की नियुक्ति चुनाव समिति की सिफारिश के अनुसार राज्य सरकार द्वारा की जाती है। इस चुनाव समिति में क्रमश: तीन सदस्य सम्मिलित होते हैं :—

(*a*) राज्य आयोग का अध्यक्ष।

(*b*) राज्य के कानून विभाग का सचिव।

(*c*) राज्य में उपभोगी मामलों से सम्बन्धित विभाग का सचिव।

राज्य आयोग का अध्यक्ष इस चुनाव समिति का भी अध्यक्ष होता है। इस चुनाव समिति की सिफारिश के बगैर राज्य सरकार ज़िला फोरम में कोई नियुक्ति नहीं कर सकती है। ज़िला फोरम का प्रत्येक सदस्य पाँच वर्ष से पहले उसकी आयु 65 वर्ष हो जाए तब उसको सेवानिवृत्त (Retire) कर दिया जाता है। किसी भी सदस्य को दूसरी बार नियुक्त नहीं किया जा सकता है। ज़िला फोर्म के सदस्यों का वेतन-भत्ते एवं सेवा शर्तों का निर्णय राज्य सरकार द्वारा किया जाता है।

ज़िला फोरम का अधिकार क्षेत्र (Jurisdiction of District Forum)—ज़िला फोरम की तीन (क) धन सम्बन्धी सीमाएँ (Pecuniary Limits), (ख) समय सीमाएँ (Time Limits) तथा (ग) क्षेत्रीय सीमाएँ (Territorial Limits) हैं।

(क) धन सम्बन्धी सीमाएँ—ज़िला फोरम उपभोक्ताओं के उन झगड़ों पर कार्यवाही कर सकता है जिन में पाँच लाख रुपये से अधिक धन का माल अथवा मुआवज़े का प्रश्न न हो। अन्य शब्दों में, उपभोगी के ऐसे झगड़े जो पाँच लाख रुपये तक सम्बन्धित हैं, ज़िला फोर्म के अधिकार क्षेत्र में आते हैं।

(ख) समय सीमाएँ—ज़िला फोरम के पास कोई भी शिकायत, झगड़ा उत्पन्न होने की तिथि से दो वर्ष के अन्दर ही की जा सकती है।

(ग) क्षेत्रीय सीमाएँ—झगड़े की शिकायत उपभोक्ता द्वारा उस ज़िला फोरम के पास की जाएगी, जिस ज़िला फोरम के अधिकार क्षेत्र में झगड़ा हुआ है। कोई भी उपभोक्ता निम्नलिखित किस्मों की शिकायतें ज़िला फोरम के पास कर सकता है :—

(*i*) किसी व्यापारी ने उपभोक्ता के साथ अनैतिक व्यापार विधि का प्रयोग किया है।

(*ii*) उपभोक्ता द्वारा खरीदे माल में कोई नुक्स है।

(*iii*) उपभोक्ता ने जो सेवाएं धन के बदले प्राप्त कीं, वे सेवाएं उसको ठीक रूप में उपलब्ध नहीं हुई हैं।

(*iv*) व्यापारी ने किसी वस्तु की निश्चित कीमत से अधिक मूल्य लिया है।

(*v*) व्यापारी ने ऐसा माल विक्रय किया है, जो जीवन की सुरक्षा के लिए खतरनाक है परन्तु उसने इस सम्बन्ध में खरीददार को कोई चेतावनी नहीं दी है।

(*vi*) किसी कानून का उल्लंघन कर व्यापारी ने कोई माल विक्रय किया है, जिसके कारण उपभोक्ता को कोई नुकसान उठाना पड़ा है।

ज़िला फोरम की कार्यवाही के लिए गणपूर्ति (Quorum)—ज़िला फोरम की कार्यवाही के समय अध्यक्ष और कम-से-कम एक सदस्य का उपस्थित होना आवश्यक है। अध्यक्ष की गैर-मौजूदगी में काम-काज नहीं हो सकता। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने एक मुकद्दमे में यह निर्णय दिया है कि अध्यक्ष के अनुपस्थित होने पर या अध्यक्ष की कुछ वैध कारणों की वजह से नियुक्ति न होने पर ज़िला फोर्म की कार्यवाही अन्य दो सदस्य सुन सकते हैं।

शिकायत की सुनवाई (Hearing of the Complaint)—ज़िला फोरम एक असैनिक न्यायालय की तरह कार्य करता है। ज़िला फोरम को एक असैनिक न्यायालय की तरह किसी भी व्यक्ति को गवाह के रूप में फोरम में बुलाने का अधिकार है। झगड़े से सम्बन्धित हर तरह के दस्तावेजों की मांग ज़िला फोरम कर सकता है। जिस पक्ष के विरुद्ध शिकायत होती है, उस पक्ष को ज़िला फोरम की तरफ से अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए पूरा अवसर दिया जाता है। सम्बन्धित पक्ष को कम-से-कम 30 दिन एवं अधिक-से-अधिक 45 दिन के अन्दर अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए समय दिया जाता है। शिकायत को दूर करने के लिए ज़िला फोरम और भी हर तरह की आवश्यक कार्यवाही कर सकता है।

ज़िला फोरम का निर्णय (Decision by the District Forum)—ज़िला फोरम में निर्णय बहुमत द्वारा लिए जाते हैं। उपभोक्ता संरक्षण कानून के अनुसार ज़िला फोर्म के प्रत्येक आदेश पर अध्यक्ष और कम-से-कम एक सदस्य के हस्ताक्षर होने ज़रूरी हैं। ज़िला फोरम के निर्णय शिकायत के अनुसार ही होते हैं। ज़िला फोरम यदि शिकायत को ठीक समझे तब वह दोषी पक्ष को निम्नलिखित कदम उठाने के लिए आदेश दे सकता है :—

(क) नुक्सदार माल को वापस लिया जाए एवं उसकी कीमत उपभोक्ता को वापस की जाए।

(ख) नुक्सदार माल के स्थान पर नया माल-उपभोगी को दिया जाए।

(ग) उपभोक्ता का नुक्सान पूरा करने के लिए उसको मुआवज़ा दिया जाए। मुआवज़े की रकम ज़िला फोर्म द्वारा निश्चित की जाती है।

(घ) उपभोक्ता की उपलब्ध सेवा अथवा सेवाएं सम्बन्धी दोष दूर किए जाएं।

(ङ) खतरनाक माल की बिक्री न की जाए।

(च) मण्डी में बिक्री के लिए भेजा गया खतरनाक माल तुरंत वापस ले लिया जाए।

(छ) झगड़े सम्बन्धी शिकायत पर उपभोगी द्वारा किया गया खर्च उपभोक्ता को दिया जाए।

ज़िला फोरम उपभोक्ताओं की शिकायतों के निवारण के लिए आवश्यकतानुसार अन्य निर्णय भी दे सकता है। यद्यपि कोई व्यक्ति ज़िला फोरम के निर्णय के विरुद्ध अपील करना चाहे तो वह ज़िला फोरम के निर्णय की तिथि से 30 दिनों के अन्दर राज्य आयोग (State Commission) के पास कर सकता है। यदि राज्य आयोग 30 दिनों के पश्चात् भी किसी अपील को सुनवाई के लिए स्वीकार करना चाहता है तो राज्य आयोग को ऐसा करने का अधिकार प्राप्त है। यदि कोई व्यापारी अथवा शिकायतकर्ता ज़िला फोरम के किसी आदेश का पालन नहीं करता है, तब ऐसे दोषी को कम-से-कम एक महीना एवं अधिक-से-अधिक तीन वर्ष तक कैद की सज़ा भी दी जा सकती है।

राज्य आयोग
(STATE COMMISSION)

राज्य आयोग की रचना (Composition of the State Commission)—1986 के उपभोक्ता सुरक्षा कानून अनुसार प्रत्येक राज्य आयोग में कुल तीन सदस्य होंगे। उनमें से एक आयोग का अध्यक्ष एवं दो अन्य सदस्य होंगे। राज्य अध्यक्ष केवल उस व्यक्ति को ही नियुक्त किया जा सकता है, जो सर्वोच्च न्यायालय (High Court) का न्यायाधीश है अथवा रह चुका है। राज्य आयोग के अध्यक्ष की नियुक्ति सम्बन्धित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के मशवरे के बगैर नहीं की जा सकती है। राज्य आयोग के अन्य दो सदस्यों के लिए यह अनिवार्य है कि उनको अर्थशास्त्र, कानून, वाणिज्य, लेखा, उद्योग, सार्वजनिक मामलों अथवा प्रशासन सम्बन्धी विशेष ज्ञान अथवा तजुर्बा हो। इन दो सदस्यों में एक स्त्री-सदस्य का होना अनिवार्य है।

नियुक्ति एवं कार्यकाल (Appointment and Tenure)—राज्य आयोग के समस्त सदस्यों की नियुक्ति एक चुनाव समिति की सिफारिश के आधार पर राज्य सरकार द्वारा की जाती है। उस चुनाव समिति में निम्नलिखित सदस्य सम्मिलित होते हैं :—

(*i*) राज्य आयोग का अध्यक्ष।

(*ii*) राज्य के कानून विभाग का सचिव।

(*iii*) राज्य के उपभोगी मामलों के साथ सम्बन्धित विभाग का सचिव।

इस चुनाव समिति का अध्यक्ष आयोग का ही अध्यक्ष होता है। इसका अभिप्राय यह है कि राज्य आयोग के अध्यक्ष का निर्वाचन उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की सलाह के साथ पहले किया जाना आवश्यक है, क्योंकि निर्वाचन हो जाने के बाद ही वह चुनाव समिति के अध्यक्ष के तौर पर काम कर सकता है। राज्य आयोग का प्रत्येक सदस्य 5 वर्ष के लिए निर्वाचित किया जाता है। यदि 5 वर्ष के कार्यकाल से पहले किसी सदस्य की आयु 67 वर्ष की हो जाती है तो वह राज्य आयोग की सदस्यता से सेवा-मुक्त (Retire) हो जाता है। राज्य आयोग के सदस्य का वेतन और भत्ते, सेवा मुक्त शर्त राज्य सरकार द्वारा निश्चित की जाती है।

राज्य आयोग का अधिकार क्षेत्र (Jurisdiction of the State Commission)—राज्य आयोग के पास दो प्रकार का अधिकार क्षेत्र है—

(i) प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र (Original Jurisdiction)—यदि शिकायतकर्ता ने माल या सेवाओं सम्बन्धी 5 लाख से 20 लाख तक के मुआवज़े की मांग की है या शिकायत का सम्बन्ध 5 से 20 लाख रुपयों तक के माल या सेवाओं के साथ है तो ऐसी स्थिति में शिकायत राज्य आयोग के पास ही की जा सकती है। यदि राज्य आयोग यह अनुभव करे कि कोई ज़िला फोर्म किसी झगड़े सम्बन्धी अपने कानूनी अधिकार क्षेत्र की सीमा से बाहर जा रहा है एवं अपने कानूनी अधिकार क्षेत्र का ठीक प्रयोग नहीं कर रहा है तो राज्य आयोग सम्बन्धित ज़िला फोरम से उस झगड़े का सारा रिकार्ड अपने पास मंगवा सकता है और उस झगड़े सम्बन्धी उचित आदेश ज़िला फोर्म को दे सकता है।

(ii) अपीलीय अधिकार क्षेत्र (Appellate Jurisdiction)—राज्य में ज़िला फोरम के निर्णयों के विरुद्ध अपील राज्य आयोग के पास की जा सकती हैं। राज्य आयोग के पास अपील करने के लिए धन की कोई सीमा निश्चित नहीं की गई है। ज़िला फोरम के किसी भी निर्णय के विरुद्ध अपील राज्य आयोग को सुनने का अधिकार प्राप्त है। यहां यह वर्णनीय है कि राज्य आयोग के निर्णयों के विरुद्ध अपील राष्ट्रीय आयोग (National Commission) के पास की जा सकती है।

(iii) शिकायत की सुनवाई (Hearing of the Complaint)—ज़िला फोरम की तरह राज्य आयोग भी असैनिक न्यायालय के रूप में कार्य करता है। राज्य आयोग किसी व्यक्ति को गवाह के रूप में अपने पास उपस्थित होने के लिए आदेश जारी कर सकता है। झगड़े से सम्बन्धित हर तरह के दस्तावेज़ों की मांग भी राज्य आयोग द्वारा की जा सकती है। राज्य आयोग में निर्णय बहुमत द्वारा लिए जाते हैं। जिस तरह शिकायत राज्य आयोग के सामने हो, उसको दूर करने के लिए राज्य आयोग दोषी पक्ष के विरुद्ध आवश्यक आदेश जारी करती है। यदि राज्य आयोग शिकायत को ठीक न समझे, तब वह शिकायत को रद्द कर सकती है एवं शिकायतकर्त्ता को आदेश दे सकती है कि वह खर्च के रूप में दूसरे पक्ष को कुछ धन दे। यदि राज्य आयोग के आदेश का पालन न किया जाए तो दोषी को एक महीने से तीन वर्ष तक कैद की सज़ा हो सकती है।

राष्ट्रीय आयोग
(NATIONAL COMMISSION)

राष्ट्रीय आयोग की रचना (Composition of the National Commission)—राष्ट्रीय आयोग में कुल पांच सदस्य होते हैं—एक अध्यक्ष और चार दूसरे सदस्य। अध्यक्ष के पद पर उस व्यक्ति को नियुक्ति किया जाता है जो सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश रह चुका हो। राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष की नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा भारत के मुख्य न्यायाधीश की सलाह से की जाती है। दूसरे चार सदस्यों की नियुक्ति भी केन्द्र सरकार ही करती है। उन सदस्यों के लिए यह आवश्यक है कि उनको अर्थशास्त्र, कानून, वाणिज्य, लेखा, उद्योग, सार्वजनिक मामलों पर प्रशासन सम्बन्धी ज्ञान एवं अनुभव हो। उन चार सदस्यों में से एक स्त्री का होना आवश्यक है।

नियुक्ति और कार्यकाल (Appointment and Tenure)—राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष की नियुक्ति भारत के मुख्य न्यायाधीश की सलाह से की जाती है। आयोग के अन्य चार सदस्यों की नियुक्ति एक चुनाव समिति की सिफारिश के अनुसार की जाती है। उस चुनाव समिति में निम्नलिखित सदस्य शामिल होते हैं :—

(i) सर्वोच्च न्यायालय का कोई वर्तमान या सेवानिवृत्त न्यायाधीश हो। ऐसे न्यायाधीश की नामज़दगी भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा की जाती है। यह न्यायाधीश ही चुनाव समिति का अध्यक्ष होता है।

(ii) भारत सरकार में कानूनी मामलों के विभाग का सचिव।

(iii) भारत सरकार में उपभोगी मामलों के साथ सम्बन्धित विभाग का सचिव।

राष्ट्रीय आयोग के प्रत्येक सदस्य की नियुक्ति पांच वर्ष के लिए की जाती है। यदि पांच वर्ष के कार्यकाल से पहले किसी सदस्य की आयु 70 वर्ष की हो जाती है तो उस सदस्य को सेवा-निवृत्त (Retire) कर दिया जाता है। राष्ट्रीय आयोग के किसी सदस्य की दूसरी बार नियुक्ति नहीं हो सकती है।

राष्ट्रीय आयोग का अधिकार क्षेत्र (Jurisdiction of National Commission)—राष्ट्रीय आयोग का अधिकार क्षेत्र दो प्रकार का है—प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र और अपीलीय अधिकार क्षेत्र।

प्रारम्भिक अधिकार क्षेत्र (Original Jurisdiction)—यदि किसी उपभोक्ता की शिकायत 20 लाख रुपए के मूल्य से अधिक माल एवं सेवाओं और मुआवज़े की मांग के साथ सम्बन्धित हो तो ऐसी शिकायत केवल राष्ट्रीय आयोग के पास ही की जा सकती है।

अपीलीय अधिकार क्षेत्र (Appellate Jurisdiction)—देश के भिन्न-भिन्न राज्यों में स्थापित किए गए राज्य आयोग के निर्णयों के विरुद्ध अपील राष्ट्रीय आयोग के पास ही की जा सकती है। राज्य आयोग के निर्णयों के विरोध में अपील कोई भी न्यायालय सुन सकता है।

राष्ट्रीय आयोग को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह किसी राज्य आयोग द्वारा सुनी जा रही शिकायत सम्बन्धी सारा रिकार्ड अपने पास मंगवा सकता है। यदि राष्ट्रीय आयोग यह अनुभव करे कि उस राज्य आयोग ने कानूनी अधिकार क्षेत्र की सीमा की आलोचना की है एवं उसने अपने कानूनी अधिकार क्षेत्र का ठीक तरह से प्रयोग नहीं किया है। ऐसे मुकद्दमे सम्बन्धी राष्ट्रीय आयोग उचित आदेश जारी कर सकता है।

राष्ट्रीय आयोग के निर्णय (Decisions of the National Commission)—राष्ट्रीय आयोग में निर्णय बहुमत द्वारा लिए जाते हैं। राष्ट्रीय आयोग को एक असैनिक न्यायालय वाले अधिकार प्राप्त हैं। वह किसी व्यक्ति को आयोग के पास पेश होने के लिए आदेश जारी कर सकता है। आयोग को यह अधिकार प्राप्त है कि वह मुकद्दमे सम्बन्धी दस्तावेज़ों एवं रिकार्डों को अपने पास मंगवा सकता है। राष्ट्रीय आयोग के किसी आदेश का पालन करने के कारण दोषी को कम-से-कम एक मास और अधिक-से-अधिक तीन वर्ष की कैद की सज़ा भी दी जा सकती है। राष्ट्रीय आयोग सभी राज्य आयोगों के ऊपर प्रशासकीय नियंत्रण भी रखता है। राष्ट्रीय आयोग के फैसले के विरुद्ध अपील केवल सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) में ही की जा सकती है। ऐसी अपील राष्ट्रीय आयोग द्वारा निर्णय देने के 30 दिनों के अन्दर करना आवश्यक है। यदि सर्वोच्च न्यायालय देरी होने के कारण के साथ संतुष्ट हो तो सर्वोच्च न्यायालय 30 दिनों के पश्चात् भी अपील दाखिल कर सकती है।